अध्याय-द्वितीय

आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ एवं संरचनाएँ तथा उनमें अन्तर्सम्बन्ध

- वर्णव्यवस्था तथा जाति प्रगुणनशीलता एवं सामाजिक समेकन
- पुरूषार्थ एवं आश्रम व्यवस्था
- संस्कार तथा उसका स्वरूप
- समाज में विवाह संस्था का स्वरूप
- सामाजिक संघटकों में अन्तर्सम्बन्ध एवं सामाजिक प्रभाव

वर्णव्यवस्था–

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्णव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से लेकर आज तक सम्पूर्ण भारत में दिखायी देता है। सम्भवतः मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही इसका प्रारम्भ किया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन को स्थायित्व प्रदान करना था।

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– 'चुनना' या 'वरण करना'।[1] वर्ण से तात्पर्य किसी वृत्ति या व्यवसाय के चुनने से माना गया है। इसीलिए समाजशास्त्रीय भाषा में वर्ण का अर्थ वर्ग से है जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से सम्बन्ध रखता है तथा समाज के अन्य वर्गों तथा समूहों से अलग अपने हितों और स्थितियों के विषय में जागरूक होता है। अमरकोश में 'वर्ण' शब्द के तीन अर्थ बताए गए है[2]– 'वर्णो द्विजादौ, शुक्लादौ, स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्यमरः।

ऋग्वेद में समाज के दो मुख्य वर्गों का उल्लेख मिलता है– आर्य वर्ण और दास वर्ण। इन दोनों वर्णों में शारीरिक और सांस्कृतिक भेद थे जिसे स्पष्ट करने के लिए आर्यों ने अनार्यों को 'कृष्णत्वक्, कृष्णगर्भ, अनास एवं मृध्रवाक्, अकर्मन, अयज्वन, अदेवयुः, अब्रहमन, अव्रत, अन्यव्रत, देवपीयुः और शिश्नदेवः कहा है। बाद में यह सामाजिक विभाजन और भी विस्तृत हो गया जिससे समाज में कार्य व्यवस्था के रूप में चार प्रमुख वर्गों की उत्पत्ति एवं विकास हुआ जो इस प्रकार है–

1. ब्राह्मण वर्ण
2. क्षत्रिय वर्ण
3. वैश्य वर्ण
4. शूद्र वर्ण।

प्रो0 रंगास्वामी आयंकर जैसे कुछ विद्वान पाषाण युग से ही समाज में कार्य–विभाजन के आधार पर वर्णों के विद्यमान होने का संकेत देते है।[3]

सैलाटोर महोदय के अनुसार तो यह प्रथा आर्यों से पहले ही द्रविड़ों के समय से चली आ रही है।[4] जबकि डा0 एस0सी0 मलिक ने सैंधव सभ्यता में वर्ग–विभाजन दिखाया है।[5] परन्तु इन विचारों की प्रामाणिकता वर्ण के सम्बन्ध में संदिग्ध है। क्योंकि डा0 मनोरमा जौहरी के अनुसार प्रागैतिहासिक काल के विषय में जानकारी के साधन बहुत ही सीमित है।[6] ऋग्वैदिक काल के सम्बन्ध में भी जिमर तथा एन0के0 दत्त महोदय वर्णव्यवस्था के पूरी तरह से प्रचलित होने के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त करते हैं, क्योंकि चारों वर्णों का वर्णन करने वाला सूक्त प्रक्षिप्त माना जाता है।[7] फिर भी अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ हो चुका था। डा0 आर0एस0 शर्मा के अनुसार ऋग्वैदिक समाज में बन्धुत्व और मुखिया के पद का विशेष महत्व था और ये दोनों जनजातीय समाज की विशेषताएँ हैं, जिससे सामाजिक संघटकों का विकास हुआ।[8] जबकि डा0 रोमिला थापर का विचार है कि ऋग्वैदिक समाज को जनजातीय समाज कहने की अपेक्षा वंश–परम्परा पर आधारित समाज कहना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। उनके अनुसार वंश–परम्परा पर आधारित समाज ने ही वर्ण–व्यवस्था को जन्म दिया। इन वर्णों का मूल व्यवसाय स्थान विशेष पर आधारित था।[9]

सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरूषसूक्त से हमें देवताओं द्वारा आदि पुरूष से चारों वर्णों की उत्पत्ति के बारे में स्पष्ट जानकारी मिलती है।[10]

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।

इस समय एक प्रमुख बात यह दिखायी देती है कि वर्ण व्यवस्था को जन्म या वंश पर आधारित नहीं माना गया, बल्कि वह गुण तथा कर्म पर चलती रही। इसका एक प्रमाण ऋग्वेद से ही मिलता है।[11]

'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी ननना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम....।'

अर्थात् मैं कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य है, मेरी माता आटा पीसती है।

परन्तु हम सभी का एक ही उद्देश्य है– धन और पशु की कामना करना।

यजुर्वेद में भी ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से तथा वृहदारण्यकोपनिषद में देवताओं से वर्ण की उत्पत्ति बताया गया है।[12] उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भिक युग में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप कठोर नहीं हुआ था, परन्तु इसके अंतिम समय तक जन्मना उत्पत्ति की स्थिति मजबूत होने लगी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग जो मात्र उपभोक्ता था, वैश्य तथा शूद्रों से अधिशेष उत्पादन को प्राप्त करने तथा अपनी सेवा कराने के लिए संगठित होने लगा। उपनिषदों के समय तक वर्णव्यवस्था में प्रथम स्थान पाने के लिए ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष की भी स्थिति देखने को मिलती है[13], परन्तु डा0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष के किसी भी निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं।[14]

उत्तर वैदिक युग के परवर्ती काल तक नवीन सामाजिक मूल्यों और विचारों में भेदपरक भावना का विकास होने लगा। पुरोहित और राजन्य वर्ग ने ऐसे विधि–विधान तथा नियमों का निर्माण किया जिससे वर्ण का निर्धारण आनुवंशिक होने लगा। वैश्य तथा शूद्र वर्ग के अधिकारों में कटौती कर उन्हें कर्त्तव्य की हमेशा याद दिलायी जाती रही। शतपथ ब्राह्मण में इनके दाह–संस्कार के तरीके तथा संबोधन के वाक्य अलग–अलग है।[15] इसी तरह अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों तथा संहिताओं में वर्णों की पृथकता के नियम बनाए गए। इस समय ऐसा लगता है कि समाज निर्माण–काल में था तथा विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य तथा स्तर का निर्धारण किया जा रहा था।

बौद्ध काल में वर्णव्यवस्था के संयोजन में कुछ नवीनता दिखायी देती है। वैसे तो बौद्ध ग्रन्थों में भी चार वर्ण तथा उनके कार्यों का स्पष्ट उल्लेख है।[16] लेकिन समाज का बौद्ध–भिक्षु वर्ग इस व्यवस्था का विरोधी था। वह इसका आधार जन्म न मानकर कर्म मानता था। गौतम बुद्ध ने स्वयं कहा कि ब्राह्मणी माता के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण ही किसी को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता है।[17] ब्राह्मण तो वह है जिसमें बुराइयॉ न हो तथा वह संसार के बुरे परिणाम, स्वाद तथा निस्सरण को जानता हो। ब्राह्मण होने से किसी का आदर

नहीं किया जाता था, बल्कि उसके अच्छे कर्मों के कारण उसका आदर होता था।[18] इतना ही नहीं वर्णों के विभाजन–क्रम का भी विरोध बौद्ध धर्म में किया गया है। बौद्ध धर्म में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से श्रेष्ठ माना गया है।[19] इसी से सम्भवतः गौतम बुद्ध ने क्षत्रिय वंश में जन्म लेना उचित समझा। उनका कहना था कि क्षत्रियों के साथ ही ब्राह्मण समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान स्थापित करते है।[20] अतः बोधिसत्वों का भी जन्म क्षत्रिय परिवार में ही हुआ। यहाँ पर वर्णों में श्रेष्ठता के लिए क्षत्रिय–ब्राह्मण संघर्ष की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। कुछ समय के लिए क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार अवश्य हुआ परन्तु थोड़े ही समय में सामाजिक नियमों के नियन्ता ब्राह्मणों ने पुनः सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त कर ली। डॉ0 घूरिये के अनुसार बौद्ध साहित्य में यह भावना घर कर चुकी थी कि भौतिक उपलब्धि अथवा आध्यात्मिक लाभ के लिए जाति का कोई महत्व नहीं है।[21] यहाँ पर यह बात बहुत महत्व की है कि गौतम बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था पर आक्षेप तो किया है, लेकिन कभी भी उसे पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास नहीं किया। सर चार्ल्स इलियट के अनुसार उन्होंने इसकी रूढ़ियों तथा कलूषों को दूर कर एक साम्य भाव स्थापित करने का प्रयत्न मात्र किया है।[22]

सूत्रकाल में पुनः वर्णव्यवस्था ने जटिल रूप धारण कर लिया। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में सामाजिक एवं धार्मिक आचार–विचार तथा चारों वर्ण के विभिन्न कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इन रचनाओं में वर्णव्यवस्था के उस स्वरूप की सूचना मिलती है, जिसमें बन्धन और अवरोध की प्रक्रिया थी। इस समय वर्ण को जन्म पर आधारित किया गया– तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतश्श्रेयान्।'[23] ब्राह्मण की विशिष्टता तथा श्रेष्ठता को बढ़ाकर, ब्राह्मण तथा शूद्रों के भेद पर अधिक बल दिया गया।[24] इस समय 'द्विज' शब्द की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार को मान्यता प्रदान किया गया तथा शूद्रों को इससे वंचित कर दिया गया।[25]

'शूद्र वर्जितानां त्रयाणां वर्णानामदुष्टकर्मणामुपायनादयो धर्मः। उपायनमुपनयनम्।'

इसी समय यह भी कहा गया कि क्षत्रिय अन्य वर्णों का शासक तो है, किन्तु ब्राह्मण वर्ण का नहीं।[26] क्योंकि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक आदरणीय है। वह क्षत्रिय के लिए पिता के सामान है।[27] यह सब जैन एवं बौद्ध धर्म अनुयायियों द्वारा वर्ण विभाजन के क्रम को अस्वीकार करने से उत्पन्न स्थिति का समाधान करने के लिए किया गया। इस समय पुनः वर्णक्रम वैदिक काल की तरह निर्धारित करते हुए ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया, परन्तु इस समय जो बुराई दिखायी देती है वह यह है कि वैदिक काल मे वर्ण का आधार व्यक्ति का गुण एवं कर्म था, लेकिन अब जन्म से ही वर्ण का निर्धारण किया जाने लगा। अब दोनों उच्च वर्ण उपभोक्ता वर्ग बन गए तथा दो निम्न वर्ण को उत्पादक कार्यों से जोड़ दिया गया।

महाकाव्यों से भी वर्णव्यवस्था के इसी स्वरूप का पता चलता है। रामायण के अनुसार आदि मनु से ही चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है–

''मनुर्मनुष्यानजनयत् कश्यपस्य महात्मनः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्च मनुजर्षभ।।'
मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
उरूभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः।।''[28]

इसी तरह महाभारत में भी वर्ण की उत्पत्ति के संदर्भ में अनेक उल्लेख मिलते हैं।[29]

महाभारत में वर्ण को जन्म के साथ ही साथ गुण एवं कर्म, दोनों पर ही आधारित दिखाया गया है। भीष्म कहते हैं कि यज्ञ के लिए प्रजापति ने चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्त्तव्य निश्चित किए।[30] फिर भी महाभारत में ऐसे कई उदाहरण है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि अच्छे कर्म करने से निम्न वर्ण के व्यक्ति का भी गला जन्म उच्च वर्ण में होता है तथा बुरे कर्म करने से उससे भी नीचे के वर्ण में जन्म होता है।[31] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह अपने वर्ण के उपयुक्त जो भी कर्म हो उन्हीं को यथाशक्ति सुचारू रूप से करे, इसी में उसका कल्याण है। महाभारत

में ही कहा गया है कि ब्राह्मणों को उनके आचरण के आधार पर ही ब्राह्मण कहा जा सकता है और यदि शूद्र सदाचारी हो तो उसे भी ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है।[32] हम महाभारत में विदूर जैसे शूद्र मन्त्रियों का उल्लेख भी पाते हैं। महाभारत में लिखा है कि न तो जन्म, न संस्कार, न विद्वता, न संतान किसी व्यक्ति को द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते हैं, बल्कि किसी व्यक्ति के कर्म ही उसे द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते है।[33] एक शूद्र भी अच्छे कर्म करके ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो सकता है। इसी प्रकार के विचार भगवद्गीता में भी मिलते हैं। एक श्लोक में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।। (गीता, 4.13)।

इससे ऐसा लगता है कि महाकाव्य काल तक वर्णव्यवस्था पूरी तरह से जन्म पर आधारित होकर रूढ़ नहीं हुई थी तथा उसमें अब भी गुण एवं कर्म के आधार पर परिवर्तन की क्षमता थी। लेकिन समाज इस परिवर्तन से कहॉ तक सहमत हो सकता था, कहना मुश्किल है, क्योंकि इस काल तक वर्णव्यवस्था में जटिलता आ गई थी।

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण की उत्पत्ति एवं कर्त्तव्यों का विस्तार से उल्लेख आया है।[34] मनु के अनुसार–

'लोकानां तु विवृद्धयर्थ मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्र च निरवर्तयत'।। (मनु0, 1.31)।

इस प्रकार इन सभी ग्रन्थों में वर्ण के उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उसे दैवीय स्वरूप देने का प्रयास किया गया जिससे कि लोगों में ईश्वर के प्रति भय बना रहे तथा अपने वर्णगत कर्त्तव्य से हटकर दूसरे वर्ण के कर्त्तव्य को अपनाने का प्रयास न करे।

स्मृतियां भारतीय समाज की आधार ग्रन्थ हैं इनमें सामाजिक व्यवस्था तथा स्थिति का व्यवस्थित विवरण दिया गया है। मनुस्मृति, नारद स्मृति, गौतम

स्मृति तथा मत्स्य पुराण आदि के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय वर्णव्यवस्था कठोर होकर जाति में परिवर्तित होने लगी थी तथा पूरी तरह से जन्म पर आधारित होकर आनुवंशिक हो गयी थी। अभी तक नन्दवंश के शासकों ने शूद्र होकर भी राजसत्ता का उपभोग किया तथा मौर्यों ने जैन एवं बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया क्योंकि वर्ण का आधार पूरी तरह से जन्म न होकर गुण और कर्म भी था परन्तु विदेशी आक्रमणों से यह व्यवस्था छिन्न–भिन्न होने लगी, जिससे वर्ण संकरता को बढ़ावा मिला। इसने उत्तर भारतीय सामाजिक ढांचे को प्रभावित किया, जिससे धर्मशास्त्रकारों ने वर्णव्यवस्था के नियम और कठोर बना दिए। महाभारत तथा मनुस्मृति के अनुसार पाचवॉ वर्ण संभव नहीं था–[35]

'स्मृताश्च वर्णश्चत्वारः पंचमों नाभिगम्यते।' (महा0, अनु0पर्व, 47.18)।

इस तरह 300 ई0 तक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णों में भेद बढ़ता जा रहा था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण की श्रेष्ठता तथा वैश्य एवं शूद्र वर्ण की निम्नता से सामाजिक अन्तर्विरोध की समस्या पैदा होने लगी थी।

धर्मशास्त्रकारों ने वर्णों के कर्त्तव्य का भी निर्धारण किया है। इन्हें दो भागों में बाँटा गया है– (1) सामान्य धर्म तथा (2) विशिष्ट धर्म

महाभारत में कहा गया है कि क्रोध न करना, सत्य बोलना, न्यायप्रियता, क्षमा, अपनी विवाहिता पत्नी से ही सन्तानोत्पत्ति, सदाचार, झगड़ों से बचना, सरलता और सेवकों का पालन–पोषण ये नौ चारों वर्णों के सामान्य धर्म हैं।[36] मनुस्मृति के अनुसार अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियों का नियन्त्रण चारों वर्णों के समान धर्म या कर्त्तव्य है।[37] धर्मशास्त्रकारों ने चारों वर्णों के अलग–अलग कर्त्तव्य भी निर्धारित किए हैं जिसे विशिष्ट धर्म कहा गया है। इनका वर्णन इस प्रकार है–

ब्राह्मण वर्ण–

समाज में ब्राह्मण वर्णव्यवस्था में उच्चतम स्थान पर था। विराट पुरूष या ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण उसकी विशिष्टता स्वयं सिद्ध थी।

ब्राह्मण के प्रधान रूप से छः कर्म माने गए हैं– पठन–पाठन, यज्ञ करना एवं कराना, दान देना तथा दान लेना–

'स्वधर्मो ब्राह्माणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।'

(अर्थशास्त्र, 1.3)

अपने सदाचरण और सच्चरित्रता से वह नैतिक मूल्यों की स्थापना करता था तथा समाज में सत्य, अहिंसा, शौच और सदाचारिता का वातावरण बनाना उसका कार्य था।

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार[38] यदि ब्राह्मण किसी विकट परिस्थिति में पड़ने पर स्वधर्म का पालन न कर सके तो उसके जीवन निर्वाह के लिए वर्णेतर कर्म की व्यवस्था है, जिसे आपद्धर्म या आपत्तिकालिक कर्म कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में वह क्षत्रिय कर्म (सैनिक वृत्ति) तथा वैश्य कर्म या कृषि और व्यापार (जिसमें कुछ निशिद्ध वस्तुओं जैसे– लोहा, चमड़ा, नमक, मद्य–माँस आदि को छोड़कर) अपना सकता है।

क्षत्रिय वर्ण–

वर्णक्रम में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण के बाद आता है। देश और समाज की रक्षा का भार क्षत्रिय वर्ण पर ही था। चातुर्वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने का दायित्व भी उनका था। कौटिल्य के अनुसार क्षत्रिय का प्रमुख कर्म था अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र ग्रहण करना और भूरक्षण करना।[39] मनु ने क्षत्रिय के लिए व्यवस्था दी है कि वह प्रजा की रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, वेद पढ़े और विषयों में आसक्त न हों।[40]

धर्मशास्त्रकारों ने क्षत्रियों के कुछ विशेषाधिकार भी बताए हैं, जैसे विजित वस्तुएँ और उपहार ग्रहण करना, तथा अपराध करने पर अपने से नीचे के दो वर्णों से कम दण्ड का भागी होना, आदि।

क्षत्रिय के आपत्तिकाल में जीवन निर्वाह के लिए कृषि तथा व्यापार (कुछ निषिद्ध वस्तुओं को छोड़कर) करने का विधान किया गया है, जिससे वह आपत्तिकाल में अपना तथा अपने परिवार का भरण–पोषण कर सके।

वैश्य वर्ण–

वर्णव्यवस्था में वैश्यों को ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के बाद तीसरा स्थान दिया गया था। गौतम धर्मसूत्र, महाभारत तथा अर्थशास्त्र में वैश्यों का प्रमुख कार्य अध्ययन करना तथा दान देने के साथ ही साथ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य बताया गया है।[41]

'वैश्यस्थस्याध्ययनं यजनं दानं कृषि पाशुपाल्येवाणिज्या च।' (अर्थ0, 3.7)।

बौद्ध युग में वैश्यों ने अपने धन–वैभव से समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें 'गहपति' कहा गया है।[42] जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय की उन्नति से वैश्यों का भी जुड़ाव होने से महत्व बढ़ा। वैश्य वर्ग ने इन सम्प्रदायों को दान देकर समृद्ध किया।[43]

ई0पू0 300 से 300 ई0 के बीच वैश्यों तथा शूद्रों के बीच निकटता बढ़ गई थी।[44] वैश्य तथा शूद्र दोनों का मुख्य धर्म 'श्रम' बताया गया तथा अर्थशास्त्र एवं भगवद्गीता में दोनों को समान महत्व दिया गया है।[45] प्रारम्भिक स्मृतियों के काल में भी पशुओं की रक्षा करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि करना वैश्यों के प्रमुख कर्म बताए गए हैं–

'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।' (मनु0, 1.90)

कुछ वस्तुएं जैसे– मद्य, मांस, लोहा और चमड़ा बेचना वैश्यों के लिए निषिद्ध किया गया था।[46] वह कुछ निकृष्ट कार्यों को छोड़कर शूद्र वर्ण का कर्म अपना सकता था।[47]

शूद्र वर्ण–

वर्णव्यवस्था क्रम में शूद्र को सबसे नीचे रखा गया था। ब्रह्मा या आदि पुरूष के पैर से उत्पन्न होने के कारण इसका कार्य अपने से ऊपर के तीन वर्णों अर्थात् 'द्विजों' की सेवा करना मात्र था।

डा0 रामशरण शर्मा ने प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों की स्थिति का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है।[48] उनके अनुसार इस वर्ग में आर्य तथा अनार्य

दोनों ही वर्गों के व्यक्ति सम्मिलित थे। आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं ने दोनों ही वर्गों में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया, जो बाद में शूद्र वर्ग में गिने जाने लगे।[49]

सबसे पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में चारों वर्णों में बुलाने के लिए प्रयुक्त शब्दों में भेद दिखायी देता है।[50] अब से शूद्रों को उपनयन, अध्ययन, यज्ञ तथा अन्य मांगलिक कार्यों से वंचित किया जाने लगा। लेकिन उपनिषदों में कहीं–कहीं शूद्रों की हीनता का विरोध किया गया है।[51] वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद में बताया गया है कि 'ब्रह्मलोक में सभी समान माने जाते हैं तथा चाण्डाल को भी यज्ञ का अवशेष पाने का अधिकार है।[52]

शूद्रों की स्थिति धर्मसूत्रों के काल में ज्यादा खराब हुई। उन्हें पूर्णतया द्विजों की मर्जी पर छोड़ दिया गया। उनकी तुलना पशुओं से की जाने लगी तथा उनकी जीविका उच्च वर्णों की परिचर्या और सेवा पर ही निर्भर करती थी।[53] गौतम धर्मसूत्र में ही व्यवस्था दी गई है कि शूद्र को उच्च वर्णों के उच्छिष्ट भोजन (जूठन) ग्रहण करना चाहिए तथा उनके द्वारा छोड़े गए जूते, छाता, चटाई, वस्त्रादि का उपयोग करना चाहिए। शूद्र द्वारा संग्रह किए गए धन पर उसके स्वामी का अधिकार होता है, तथा वैदिक मन्त्रों को सुनने वाले शूद्र के कानों में टीन या लाख का गला हुआ पदार्थ भर देना चाहिए साथ ही यह भी कहा कि वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करने पर उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए।[54] जबकि आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र के सामने वेदपाठ करना ही नहीं चाहिए।[55] आपस्तम्ब तथा बौधायन ने यह विधान किया कि शूद्र की हत्या करने वाले व्यक्ति के लिए वही प्रायश्चित होता है जो कौवे, उल्लू, मेढ़क, कुत्ते आदि की हत्या के लिए है।[56] वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र श्मशान के समान अपवित्र है।[57]

शूद्रों के कोई राजनैतिक तथा सामाजिक संगठन न होने की वजह से उन पर मानसिक, आर्थिक तथा न्यायिक अत्याचार किया गया। उन्हें उपनयन संस्कार से रोककर अशिक्षित तथा अज्ञानी बना दिया गया।

बौद्ध युग तथा महाकाव्य कालीन समाज में भी शूद्रों की यही स्थिति बनी रही। डेढ़ माषक प्रतिदिन की उसकी मजदूरी मानी जाती थी।[58] शिल्पगत कार्यों को करने वाले भी इस समय शूद्र माने गए। महाकाव्यों में भी शूद्र का प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की सेवा बताया गया है–

'शूद्रः शुश्रूणां कुर्यात् त्रिवर्णेषुनित्यशः। (महा0, 4.50.6)।

कोई भी शूद्र विद्याध्ययन, यज्ञ तथा तप नहीं कर सकता था।[59] इसीलिए शूद्रवर्णीय शम्बूक के तप करने पर भगवान श्रीराम ने वर्णधर्म की रक्षा के लिए उसका वध कर दिया।[60] इस अन्याय के लिए स्वयं राम दोषी कहे जा सकते हैं, क्योंकि आज का समाज समानता एवं भाईचारे पर बल देता है। विदुर ने स्वयं स्वीकार किया था कि वे शूद्र होने के कारण शिक्षा प्रदान करने के अधिकारी नहीं हैं।[61] इससे लगता है कि वे स्वयं शिक्षित थे। एकलव्य के शूद्र (निषाद) होने के कारण ही द्रोणाचार्य ने उसे शिक्षा देने से मना कर दिया था। लेकिन इसी समय एक अन्य परिस्थिति का भी पता चलता है कि समाज में शूद्रों के साथ कुछ उचित व्यवहार भी किया जा रहा था क्योंकि महाभारत में विदुर, कायव्य और मातंग ऐसे ही जन्मना शूद्र थे, जो अपने कर्मों के कारण समाज में प्रतिष्ठित थे तथा अपनी इच्छानुसार दूसरे कर्म भी अपना सकते थे। इस समय वे पशु–पालन, व्यापार और उद्योग धन्धों को भी करते थे।[62] अतः शूद्रों के लिए ये निर्देश उनकी परिवर्तित स्थिति को दिखाते है। युधिष्ठिर ने भी अपने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया था।[63]

अर्थशास्त्र में भी शूद्र का प्रधान धर्म द्विजाति की सेवा तथा वार्ता अर्थात् कृषि, पशुपालन और वाणिज्य बताया गया है।[64] 'शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्त्ता...।

इस समय शूद्रकर्षक का भी उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने उन्हें सेना में भर्ती होने की छूट दी है। अब उन्हें सम्पत्ति रखने का भी अधिकार था।[65] अतः मौर्यकाल में शूद्र वार्त्तावृत्ति तथा विभिन्न शिल्पों द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे।

डा0 आर0एस0 शर्मा तथा रोमिला थापर जैसे इतिहासकारों की मान्यता

है कि अशोक ने कलिंग युद्ध में जिन डेढ़ लाख सैनिकों को युद्ध बन्दी बनाया था, वे सब राजकीय फर्मों में उत्पादक कार्यों में लगाये गये तथा जिससे शूद्रों की संख्या में वृद्धि हुई।[66] अशोक के लेखों से पता चलता है कि दासों और सेवकों के साथ उदार व्यवहार होता था। अशोक ने दण्ड तथा व्यवहार में भी समता लाने का प्रयास किया।[67]

मनुस्मृति में भी शूद्रों का एकमात्र धर्म अन्य वर्णों की सेवा करना बताया गया है–

'एकमेव दु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।' (मनु0, 1.91)

श्री घुरये के अनुसार इस समय शूद्रों को बहुत ही दयनीय स्थिति में जीवन निर्वाह करना पड़ता था।[68] डा0 रामशरण शर्मा ने भी लिखा है कि उन पर जो भारी अशक्तताये लादी गयी उनके पीछे यह उद्देश्य था कि वे बराबर उच्च वर्णों की सेवा करे, अपने श्रम को उनकी सुख–सुविधा के लिए अर्पित करें तथा उनके विरूद्ध किसी प्रकार का विद्रोह न करें।[69]

वर्णव्यवस्था में कानून के समक्ष सभी की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया। विधि–ग्रन्थों के अनुसार न्यायिक दंड की व्यवस्था में अपराधी की जाति का भी ध्यान रखा जाता था।[70] अधिकार मुख्य रूप से केवल सुविधा प्राप्त उच्च वर्णों को दिए गए निम्न वर्णों के भाग्य में केवल दायित्व ही दायित्व थे। समाज का सारा बोझ शूद्रों और अस्पृश्यों के सिर आ पड़ा, जो किसी प्रकार की सुविधा या अधिकार का दावा नहीं कर सकते थे।

वर्ण संकरता तथा जाति प्रगुणनशीलता–

'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति की 'जन्' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म अथवा भेद से लिया जा सकता है।[71] अंग्रेजी का 'कास्ट' शब्द पुर्तगाली भाषा के 'कास्टा' से बना है जिसका अर्थ नस्ल, प्रजाति या जन्म है।[72] प्रो0 वाडिया के अनुसार यह लैटिन भाषा के 'कास्टस' के बहुत समीप है, जिसका अर्थ है 'विशुद्ध' अर्थात् नस्ल सम्बन्धी विशुद्धता।

मनु ने 'संकर–जाति' का उल्लेख किया है।[73] 'संकर' का अर्थ है विनष्ट होना। इसलिए संकर जाति से अर्थ उस जाति से है जिसका उद्भव विनष्ट रूप में हुआ हो अर्थात् जिसमें जातीय शुद्धता न हो।[74] इसे 'वर्ण–संकर' भी कहते हैं। इसमें भी वर्णों के स्वरूप के विनष्ट करने का पता चलता है, लेकिन–संकर जाति परिणाम को लेकर नामकरण करता है, जबकि वर्ण–संकर उत्पत्ति के स्रोत को लेकर। अशुद्धता ही इसका प्रधान तत्व है। जातीय अशुद्धता पितरों में हुए असवर्ण वैवाहिक सम्बन्ध से आती है। गीता में कहा गया है कि स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं–

'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः (महा0, गीता, 1.41)।

मनु के अनुसार जब एक वर्ण का पुरूष दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह करता है और वह भी सगोत्र हो जो विवाह के लिए वर्जित होता है, तो इसके द्वारा जो सन्तति उत्पन्न होती है वह वर्ण संकर कहलाती है।[75] नारद के अनुसार जो सन्तति वर्णों के उल्टे क्रम के संयोग से उत्पन्न होती है वह वर्णसंकर कहलाती है– 'प्रातिलोभ्येन यज्जन्म स ज्ञेयो वर्णसंकरः।'[76] गौतम ने कहा है कि वर्णों के बीच जो असंरक्षित सम्बन्ध है वही संकर धर्म है।[77]

होकार्ट जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने 'जाति' और 'वर्ण' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। लेकिन जाति का आधार जन्म है तथा वर्ण का गुण और कर्म। हट्टन के अनुसार दोनों पृथक सामाजिक संगठन है और दोनों की धारणाएं भी भिन्न है।[78] डा0 श्रीनिवास ने जाति को ही आज की सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक इकाई स्वीकार किया है। उनके अनुसार वर्तमान हिन्दू समाज में वर्ण की स्थिति प्राचीन काल जैसी नहीं रही।[79]

वैदिक साहित्य में 'जाति' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है लेकिन ऐसे वर्गों के नाम मिलते हैं जो परवर्ती काल में जातियाँ बन गई जैसे कि उग्र, क्षत्र, सूत, पौल्कस, चांडाल, आयोगव, पांचाल तथा वैदेह आदि। अतः इस समय कुछ ऐसे तथ्य विद्यमान थे जिनसे परवर्ती काल में जातियों की उत्पत्ति हुई। अर्थात् कुछ जातियों के नाम उनके व्यवसायों के आधार पर, कुछ के प्रजातियों के नाम पर

और कुछ उन प्रदेशों के नाम पर, जहाँ के वे निवासी थे। डा0 पी0वी0 काणे के अनुसार वैदिक काल की समाप्ति के पूर्व ही चांडाल जैसी निम्न जातियों का विकास हो चुका था, तथा शिल्पों और कलाओं के आधार पर अनेक उपजातियाँ बन चुकी थी। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि इस काल में अनेक अनार्य और आदिम जातियाँ आर्य समुदाय में प्रवेश कर रही थी।[80] प्रो0 रोमिला थापर ने इतिहास–पुराण परम्परा में प्रयुक्त वंशावलियों के आधार पर जातियों की उत्पत्ति तथा विकास को समझने में सहायक माना है।[81]

'जाति' शब्द का प्रथम उल्लेख निरूक्त में कृष्णजाति के अर्थ में मिलता है–

'अग्निं चित्वा रमामुपेयात्। रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया।' (निरूक्त 12.13)

उपनिषद साहित्य मे भी 'जाति' शब्द का सन्दर्भ आया है।[82] पाणिनी तथा पतंजलि ने भी अनेक बार शब्दोत्पत्ति की व्याख्या करते हुए जाति शब्द का उल्लेख किया है।[83]

छठी शताब्दी ई0पू0 तक उत्तर भारतीय समाज में जाति प्रथा का पूरी तरह विकास हो चुका था। गौतम तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र जैसे ग्रन्थों में जाति शब्द का उल्लेख पृथक् जनसमुदाय के अर्थ में ही किया गया है। उसके आकार–प्रकार का भी उल्लेख है।[84]

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के आधार पर जातियों की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले बौधायन ने किया।[85] उन्होंने चांडाल, रथकार, वेण, निषाद, पुक्कुस आदि जातियों का उल्लेख किया है। बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें हीन जाति कहा गया है।[86] मेगस्थनीज ने भारतीय जनता के सात जातियों में विभाजित होने तथा अपनी ही जाति में विवाह करने का उल्लेख किया है।[87] यद्यपि मनुस्मृति के अध्ययन से पता चलता है कि अनुलोम विवाहों की अनुमति थी।[88] मनु ने अंबष्ठ, निषाद, सूत, उग्र, विदेह, मागध आदि 57 जातियों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार इन सभी जातियों की उत्पत्ति अन्तरजातीय विवाहों के फलस्वरूप हुई। इसी बात को महाभारत ने भी प्रमाणित किया है। भीष्म के अनुसार प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप ही नई जातियां

उत्पन्न हुई।[89]

परन्तु अन्तरजातीय विवाहों से जातियों की उत्पत्ति का सिद्धान्त धर्मशास्त्रकारों की कल्पना लगती है क्योंकि हम देख चुके हैं कि कुछ जातियां व्यवसाय के आधार पर, कुछ प्रजाति के आधार पर तथा कुछ जातियाँ क्षेत्र के आधार पर बनी। एक ही जाति की उत्पत्ति के विषय में धर्मशास्त्रकार अलग–अलग मत भी रखते हैं जैसे कुछ जातियों का विवरण इस प्रकार हैं[90]–

अम्बष्ठ	ब्राह्मण पुरूष तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान। मुख्य कार्य– चिकित्सा करना।
निषाद	ब्राह्मण पुरूष तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न (बौधायन तथा महाभारत के अनुसार)। ब्राह्मण पुरूष तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न (गौतम ध0सू0 के अनुसार)। मुख्य कार्य– नाविक कार्य, मछली मारना, आखेट आदि।
उग्र	वैश्य पुरूष तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न (गौतम ध0सू0 के अनुसार) क्षत्रिय पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न (बौधायन तथा मनु के अनुसार)। मुख्य कार्य– भूमि के बिल में से जानवरों को निकालने का पेशा।
आयोगव	शूद्र पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न (गौतम, महाभारत, मनु के अनुसार)। वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न (बौधायन ध0सू0 के अनुसार)। मुख्य कार्य– बढ़ईगिरी।
मागध	वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न (गौतम, महाभारत तथा मनु के अनुसार)। शूद्र पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न (बौधायन ध0सू0 के अनुसार)। मुख्य कार्य– 'वणिक् पथ' अर्थात् स्थल मार्ग से व्यापार करना।
रथकार	वैश्य पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न (बौधायन के अनुसार) मुख्य कार्य– रथ निर्माण
वैदेहक	शूद्र पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न (गौतम के अनुसार) वैश्य पुरूष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न (बौधायन, महाभारत तथा मनु के अनुसार)। मुख्य कार्य– 'स्त्री कार्य' अर्थात् अन्तःपुर की स्त्रियों की सेवा तथा रक्षा करना।

उपर्युक्त संकर जातियों के अतिरिक्त कुछ पेशेवर जातियों का भी उल्लेख मिलता है जैसे[91] रजक (धोबी), तन्तुवाय या कौलिक (बुनकर), त्वष्ट्रा (तक्षन), कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लोहार), बधतौ, हाड़ी, हिरण्यकार या स्वर्णकार, सुराकार, दीवाकीर्ति (नापित), निपजीव (कुम्भकार) आदि।

इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के अन्तर्गत भी अनेक जातियों की उत्पत्ति और विकास हुआ।[92]

अतः स्पष्ट है कि जातियों की उत्पत्ति और विकास मात्र अन्तरजातीय विवाहों से नहीं हुई बल्कि व्यवसाय, प्रजाति, क्षेत्र तथा अन्तरजातीय विवाह आदि कई कारकों ने मिलकर धीरे–धीरे जाति प्रथा को विकसित किया। इसीलिए विद्वानों ने जाति की परिभाषा देते समय एक या उनमें से कई तत्वों को शामिल किया है।

रिजले महोदय के अनुसार जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संगठन है जिनका एक नाम होता है तथा मानवीय या दैवीय किसी भी प्रकार के एक पुरूष से वे अपना जन्म निश्चित करते हैं। एक ही वंशानुगत व्यवसाय का पालन करते हैं और उन अधिनियमों का पालन करते हैं जिन्हें सजातीय समुदाय बनाता है।[93]

कूले महोदय के अनुसार, 'कोई भी वर्ग जब पूर्णरूप से वंशानुगत होता है तब वह जाति कहलाता है।[94]

मदन और मजूमदार के अनुसार, 'जति एक बन्द व्यवस्था (जन्मजात व्यवस्था) है।[95]

श्री केतकर के अनुसार जातिरूपी सामाजिक समुदाय की दो विशेषताएं हैं[96]–

1. इसकी सदस्यता जन्मजात होती है, तथा
2. इसके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बन्धन में ही रहना पड़ता है।

जाति व्यवस्था के संरचनात्मक और संस्थापक पक्षों पर डा0 घुर्ये ने विस्तार से विचार किया है तथा उन्होंने इसके पृथकत्व, संस्तरण, खान–पान की भेदकता, ऊँच–नीच की भावना, सामाजिक और धार्मिक अयोग्यताएं एवं

विशेषाधिकार, व्यवसाय का बन्धन तथा विवाह का प्रतिबन्ध आदि प्रधान विशेषताएं बताई है।[97]

एन0के0 दत्त महोदय ने जाति प्रथा की निम्न विशेषताएं बतायी हैं[98]–

- एक जाति का सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता।
- खान–पान में विभिन्न जातियाँ एक–दूसरे से प्रतिबन्ध रखती है।
- अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते है।
- जातियों में ऊँच–नीच का संस्तरण नहीं रहता है, जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य और सर्वोच्च रहती है।
- मनुष्य की जाति उसके जन्म से निर्धारित होती है, जाति के नियमों को तोड़ने पर व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो जाता है।
- जाति की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।

इस प्रकार इन विशेषताओं और मान्यताओं के कारण कोई भी व्यक्ति अपनी जाति को आसानी से परिवर्तित नहीं कर सकता था। साथ ही प्राचीन भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति किसी एक कारण से नहीं हुई, बल्कि उसके विकास के अनेक कारण थे जैसे– भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक आदि। इसमें प्रत्येक जाति के सदस्य से अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करते हुए समाज की उन्नति करने तथा उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने की आशा की जाती थी। लेकिन इस व्यवस्था से लाभ कम हानियाँ अधिक सामने आयी।

जाति व्यवस्था ने सामाजिक स्वरूप को इतना विघटित तथा जटिल बना दिया कि विदेशी आक्रमण के समय कई जातियॉ प्रतिरोध करना अपना कर्तव्य न समझकर इससे दूर रही।

जाति प्रथा से अस्पृश्यता की भावना का विकास हुआ जो मानवता के लिए अभिशाप है तथा जिससे छुटकारा पाने के लिए आधुनिक भारत आज भी छटपटा रहा है।

एक अन्य हानि तब दिखायी देती है जब व्यक्तित्व का समुचित विकास

जातियों के सहारे सम्भव नहीं हो सका। व्यवसायगत एकता रखने के लिए जन्मजात व्यवस्था बनाई गई। इसलिए वह व्यक्ति जिसमें दूसरी जाति का गुण विद्यमान था अपना यथेष्ट विकास नहीं कर सका।

अतः प्राचीन उत्तरी भारत के सामाजिक स्वरूप को वर्णव्यवस्था ने समय–समय पर प्रभावित किया है तथा स्वयं भी अपने स्वरूप में परिवर्तित होती रही है। समाज का कार्य विभिन्न वर्गों के बीच बाँटकर कराये जाने का विधान किया गया था जिससे सामाजिक गतिविधि सही दिशा में विकास कर सके तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी एक वर्ण का पेशा या व्यवसाय अपनाकर वर्णधर्म का पालन करते हुए अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास कर सके। परन्तु वर्णव्यवस्था धीरे–धीरे गुण एवं कर्म से हटकर जन्म पर आधारित होने लगी और वह जाति का स्वरूप धारण करती गयी। जिससे अब एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के व्यवसाय को अपनाने से रोका जाने लगा। समाज के साथ ही साथ धर्मशास्त्रकारों ने भी इसमें सहयोग दिया। इससे समाज में जटिलता तथा विद्रूपता भी आने लगी और समाज के विकास के लिए निर्मित यह व्यवस्था अब संकीर्ण हो गई। इससे कुछ वर्णों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ गई जबकि कुछ वर्ण अपनी निम्न एवं हीन अवस्था से केवल जीवन जीने भर को मजबूर हो गए। जिससे समाज में शोषक और शोषित जैसे दो वर्ग बन गए।

पुरूषार्थ–

पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ है– 'उद्योग'।[99] पुरूषार्थ से तात्पर्य निर्दिष्ट दिशा में किए जाने वाले उन उद्योगों से है जिनकी व्यवस्था से मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सके। इसीलिए कहा गया है कि 'पुरूषैरर्थ्यते पुरूषार्थः' अर्थात् पुरूष की इष्ट वस्तु अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही पुरूषार्थ है। जीवन के उद्देश्य चार माने गए हैं और यही चारों उद्देश्य पुरूषार्थ हैं जो इस प्रकार है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

धर्म–

डा0 पी0वी0 काणे के अनुसार 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है

जिसका अर्थ है धारण करना।[100]

महाभारत (कर्ण पर्व, 10.9.58) के अनुसार धारण करने वाले को धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है–

'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।'

इस प्रकार धर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है; जिसका आधार नैतिक नियम और सदाचरण है। रामायण में कहा गया है कि संसार में सबसे श्रेष्ठ स्थान धर्म का ही है।[101] श्री कृष्ण ने महाभारत में 'धर्म' शब्द की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर किया है। प्रत्येक स्थल पर उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धर्म से अभिप्राय है सामाजिक स्थिति को दृढ़ बनाए रखना। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि धर्म का उद्‌भव इसीलिए हुआ कि सृष्टि का कल्याण हो सके।[102] यह भी कहा गया है कि जो भी कार्य मानव के कष्टों के निवारणार्थ किया जाय वह सभी धर्म है।[103] धर्म वही है जिससे स्वतः सुख प्राप्त हो, परन्तु दूसरे को उससे कभी भी कष्ट न हो।[104] कौटिल्य ने तो स्पष्टतः कहा है कि– 'धर्मः प्रधानं पुरूषार्थात्' (अर्थशास्त्र, 2.55)। इसीलिए मनु ने कहा है कि जो अर्थ और काम, धर्म के विरूद्ध हो उन्हें त्याग देना चाहिए।[105] मनु के अनुसार धर्म के आधार–स्रोत श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार और आत्मतुष्टि है, जो धर्म के साक्षात चार लक्षण है।[106] वशिष्ठ ने मत दिया है कि मनुष्य के सदाचार से अधिक महत्वपूर्ण वेद और स्मृतियाँ है।[107] स्मृतिकारों ने सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म के अन्तर्गत अनेक धर्मों का उल्लेख किया है जैसे– देश–धर्म, जाति–धर्म, कुल–धर्म, वर्ण–धर्म, आश्रम–धर्म, गुण–धर्म, नैमित्तिक धर्म आदि।

साधारण धर्म मनुष्य के मानवतायुक्त नैतिक आचरण से सम्बन्धित हैं। सामान्य धर्म के 30 लक्षण बताए गए हैं।[108] जिसमें साधारणतः सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दम, क्षमा, शुश्रुषा, शील, मधुर वचन, शरणागत–रक्षा, अतिथि सेवा आदि मनुष्य के साधारण धर्म कहे गए हैं।

अतः जिमर महोदय ने ठीक ही कहा है कि वस्तुतः धर्म आचरण की

संहिता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्तित्व के रूप में नियन्त्रित होता हुआ क्रमशः विकसित होता है और अन्त में चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है।[109]

डा0 राधाकृष्णन के शब्दों में 'धर्म वही है जो किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता।[110] गोखले का भी कहना है कि धर्म को कर्त्तव्यों का संग्रह माना जा सकता है।[111] मूलरूप से धर्म कर्त्तव्यों की एक व्यवस्था की अभिव्यक्ति करता है, जिसमें व्यक्ति स्वयं ही अपने अन्तस् में आध्यात्मिक अनुभूति करता है तथा नैतिकता को जीवन में आचरित करता है।[112]

अतः धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के विश्वास, नैतिक आचरण, व्यवहार और उसकी आस्तिकता से है जिसमें मनुष्य का प्रत्येक समय और सामाजिक जीवन नियन्त्रित और विकसित होता है।

अर्थ–

पुरूषार्थ में दूसरा स्थान 'अर्थ' का है। अर्थ का सम्बन्ध धन–सम्पत्ति से होते हुए भौतिक संसाधनों और सुख से भी है। मनुष्य को समृद्ध बनाने वाले सभी साधन इसमें आ जाते हैं। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने भी धन की महत्ता बताते हुए श्रीकृष्ण से कहा है कि धन ही सभी धर्मों का मूल है, क्योंकि इसी से सारी धार्मिक क्रियाएं की जाती है।[113] जो धन से अनावृत्त है, वह धर्म से भी, क्योंकि समस्त धार्मिक कार्यों में धन की अपेक्षा की जाती है। अर्थविहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। अर्थ के बिना जीवन–यापन मुश्किल हो जाता है।[114] कौटिल्य ने भी अर्थ को धर्म जितना ही महत्व का बताया है तथा धर्म और काम का आधार माना है।[115]

अतः जनसामान्य के लिए शास्त्रकारों ने उचित सुख–भोग की अनुमति दी है। आपस्तम्ब ने मनुष्य को धर्मानुकुल सभी सुखों का उपभोग करने की अनुमति दी है।[116] मनु के अनुसार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) ही श्रेय है जिसमें अर्थ की अपनी विशेषता है। लेकिन वह पुनः कहते हैं कि यदि अर्थ और काम धर्म विरूद्ध है तो उन्हें छोड़ देना चाहिए[117]–

'धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्तिवर्ग इति तु स्थितिः।।
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्म चाप्यसुखोवर्क लोक विक्रुष्टमेव च।।'

इस प्रकार धन का महत्व भौतिक जगत में सर्वाधिक माना गया है। वही संसार का मूल है।[118] धन सम्पन्न होने पर ही धर्म किया जा सकता है लेकिन उसके लिए भी इच्छाशक्ति जरूरी है क्योंकि आज के समय में बहुत लोगों के पास धन है लेकिन वे इसका प्रयोग धर्म की जगह अधर्म में लगा रहे हैं और अपना तथा समाज का नैतिक पतन कर रहे हैं। अतः अर्थ में भौतिक गौरव प्राप्ति के सभी साधन समाहित होते है।[119]

काम–

साधारण परिस्थितियों में काम से वासना का अभिप्राय लिया जाता है लेकिन यदि हम व्यापक रूप से देखें तो मनुष्य के आनन्द और ऐन्द्रिक संतुष्टि की इच्छा भी इसमें है। काम का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें धर्म तथा अर्थ दोनों को एक साथ समन्वित किया जा सकता है। इसी से भारतीय धर्म साधना के ग्रन्थों में जहाँ समाजशास्त्रियों ने काम को विशेष स्थान प्रदान किया है वही पाश्चात्य विचारकों के एक वर्ग ने काम को ही एकमात्र प्राणियों में क्रिया का प्रेरणास्रोत माना है। मनु ने काम को ही जीवन का मूल संकल्प बताया है। वात्स्यायन ने भी इसी आधार पर कामसूत्र की रचना की है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने काम को ही जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल उत्तेजक शक्ति माना है।

महाभारत में कहा गया है कि आनन्द में पूर्णतः लिप्त रहना ही काम है, लेकिन इसका अतिरेक भी महान दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।[120] अतः काम धार्मिक नियम एवं संयम के अनुरूप होना चाहिए। अर्थ को काम और धर्म का आधार माना गया है।[121] कौटिल्य ने तो काम को अन्तिम श्रेणी में रखा है तथा बिना धर्म और अर्थ को बॉधा पहुँचाए इसका पालन करने के लिए निर्दिष्ट किया है।[122] मनु ने काम को तमोगुण लक्षण वाला माना

है।[123] उनके अनसार 'गृहस्थ जीवन की सार्थकता काम के माध्यम से सन्तान उत्पन्न करके मानी गयी है जिससे अक्षय स्वर्ग और ऐहिक सुख प्राप्त होता है।[124] काम को विषय–वासना और विलासिता का साधन मानने से क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रम, बुद्धिनाश और अन्ततः मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।[125] अतः स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरूष राग–द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त करता है।[126] इसी से श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं ही सभी जीवधारियों में धर्मानुकूल काम हूँ।[127]

इस प्रकार अधार्मिक काम निन्दनीय था और धार्मिक काम प्रशंसनीय। पुरूषार्थ की सिद्धि में काम की सबसे निम्न स्थिति थी।[128] जो व्यक्ति बिना धर्म की सहायता लिए काम का अनुसरण करता था वह अपनी बुद्धि को समाप्त कर देता था और कठिनाइयों में वह अपने शत्रु द्वारा हास्यास्पद बनता था।[129] इसलिए पुरूषार्थ के लिए बुद्धि और विवेक आवश्यक है।

मोक्ष–

मनुष्य के पुरूषार्थ की अन्तिम और चरम परिणति मोक्ष है। साधारण रूप में मोक्ष का अर्थ जीवन की मुक्ति से लिया जाता है, परन्तु यह मुक्ति संयमित जीवन एवं विधि–नियमों के अधीन होनी चाहिए।

मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्' धातु से हुई है, जिसका अभिप्राय है मुक्त करना अथवा स्वतन्त्र करना।[130] अतः मोक्ष का अर्थ 'आत्मा की मुक्ति' से है। अपने जीवन के सभी कार्यों को सात्विकता और सफलतापूर्वक पूरा करने के बाद मनुष्य वृद्धावस्था में इस चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास किया जाता है तथा सन्यास आश्रम में इसे पूरा किया जाता है। धर्म, अर्थ और काम जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन है, न कि स्वयं में साध्य। मोक्ष का सम्बन्ध केवल व्यक्ति से है, समूह से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति निश्चयपूर्वक अन्तरात्मा में ही सुख

वाला है, आत्मा में ही ज्ञानवाला है, ऐसा ही योगी परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभूत होकर शान्त ब्रह्म को प्राप्त करता है।[131] अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति को मोक्ष अपने आप ही मिल जाता है।[132]

मोक्ष प्राप्ति के तीन प्रधान आधार माने गए हैं– कर्म, ज्ञान और भक्ति।[133] मनु के अनुसार तीनों ऋणों को पूरा करके ही व्यक्ति के अपने मन को मोक्ष में लगाना चाहिए, नहीं तो वह व्यक्ति नरकगामी होता है।[134] मोक्ष के लिए प्रयास करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करें, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करें, शक्ति के अनुरूप यज्ञों का अनुष्ठान करें और इसके बाद मोक्ष का निवेशन करें।[135] विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि सभी आश्रमों के कार्य सम्पादित करने के बाद ही ब्रह्मलोक अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[136] मनु (6.60) के अनुसार इन्द्रिय–निरोधी, राग–द्वेष का त्यागी और अहिंसा परायण व्यक्ति ही मुक्ति के योग्य होता है–

'इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।।'

विधि–नियन्ताओं ने मोक्ष या परमतत्व की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को सभी राग–द्वेष से मुक्त होकर ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम का विधिपूर्वक पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति की अनुमति दी है।

अतः प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों का मानना है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरूषार्थ से ही सम्भव है और इनकी संख्या चार है। पर वास्तव में ये तीन ही है क्योंकि मोक्ष तो हमारे जीवन क उद्देश्य है, वही हमारा गन्तव्य तथा लक्ष्य भी है। यही कारण है कि धर्म, अर्थ तथा काम को 'त्रिवर्ग' कहा गया है।[137] लेकिन इस त्रिवर्ग में सबसे अधिक महत्व धर्म को ही मिला है।[138] फिर भी यदि हम इनमें से एक को भी छोड़ दे तो हमारा जीवन अधूरा हो जायेगा। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि धर्मार्थ काम का सेवन समान रूप से करना चाहिए–

'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः ह्योकमक्तः स नरो जघन्यः।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमोयोऽभिरतस्ति वर्गे।।'
(महा0 शान्तिपर्व, 167.40)

मनु के अनुसार धर्म, अर्थ और काम के उचित समन्वय से ही मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है।[139] लेकिन जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए ये तीनों पुरूषार्थ साधन मात्र है न कि साध्य। वात्स्यायन ने भी कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम तीनों की वंदना की है।[140] अतः तीनों का ऐसा समन्वय करना चाहिए कि एक–दूसरे के लिए घातक सिद्ध न हो। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित होना चाहिए। इसीलिए डा0 कपाड़िया का कहना है कि अर्थ और काम के बीच की कड़ी है धर्म जो व्यक्ति में स्थित पशुता और देवत्व का समन्वय करता है।[141]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के जीवन में यदि अर्थ और काम उत्तेजना पैदा करता है तो धर्म उसको नियन्त्रित कर मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करता है। ये पुरूषार्थ ही मानव के सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन को समझने, निर्णय देने तथा व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है।

आश्रम व्यवस्था–

प्राचीन हिन्दू समाज में आश्रम–व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय मनीषियों द्वारा विश्व की सामाजिक विचारधारा के लिए यह एक अद्वितीय देन है।

'आश्रम' शब्द संस्कृत में आड् पूर्वक 'श्रम' धातु में घञ्' प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ है– जिसमें श्रम ही श्रम है।[142] अर्थात् यहां पर आलस्य को स्थान नहीं है। प्रत्येक आश्रम जीवन में एक अवस्था है जिसमें कुछ काल तक प्रशिक्षण प्राप्त करके प्रत्येक व्यक्ति आगामी अवस्था के लिए अपने को तैयार करता है। डा0 प्रभु के अनुसार आश्रम एक तरह से कर्ममय जीवन–यात्रा के चार पड़ाव है, चार विश्राम स्थल है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति रूक–रूककर एक निश्चित कार्य सम्पन्न करके ही आगे बढ़ता है।[143] आश्रमों की संख्या चार है– 1. ब्रह्मचर्य, 2. गृहस्थ, 3. वानप्रस्थ तथा 4. सन्यास आश्रम।

रीज डेविड्स का विचार है कि आश्रम व्यवस्था बुद्धकाल के पूर्व की नहीं हो सकती, क्योंकि सभी उपनिषदों में चारों आश्रमों का उल्लेख नहीं हुआ है।[144]

मनु ने भी एक स्थान पर केवल तीन आश्रमों का ही उल्लेख किया है।[145] डा0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का भी कहना है कि सन्यास का प्रचलन बाद में हुआ।[146] डा0 पी0वी0 काणे ने भी माना है कि वैदिक साहित्य के यति तथा मुनि जैसे शब्दों से किसी विशेष आश्रम का बोध नहीं होता है।[147] अतः आरम्भ में तीन ही आश्रम थे।[148] छान्दोग्य उपनिषद में केवल प्रारम्भिक तीन आश्रमों का ही उल्लेख है, जबकि जाबालोपनिषद में ही सर्वप्रथम चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है।[149] अतः ऐसा लगता है कि सन्यास आश्रम का विकास बाद में ही हुआ। चारों आश्रमों का वर्णन इस प्रकार है–

ब्रह्मचर्य आश्रम–

यह प्रथम आश्रम है जिसमें ब्रह्मचारी को नैतिकता, स्वच्छता तथा सदाचरण की शिक्षा सबसे पहले अपने गुरू से मिलती है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– महानता में विचरण (ब्रह्म=महानता में, चर्य=विचरण का भाव) अर्थात् महान होना।[150] इस शब्द का व्यावहारिक अर्थ है– उपस्थ संयम अर्थात् वीर्य रक्षा–'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।'[151] इन दोनों अर्थो में सम्बन्ध है। शतपथ ब्राह्मण के शब्दों में वीर्य ब्रह्मतेज है– वीर्यं वै भर्गः।[152] आयुर्वेद की दृष्टि में भी यह भोजन का अन्तिम सारतत्व है।[153] इसीलिए योगसूत्र में जननेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य कहा गया है।[154] जबकि दक्षसंहिता में विपरीत लिंग वाले व्यक्ति का स्मरण, प्रशंसा, हास–परिहास, उसे देखना, एकान्त में वार्तालाप, संकल्प, अध्यवसाय (मानस प्रयत्न) तथा क्रियानिर्वृत्ति (संभोग) से विरत रहना ब्रह्मचर्य माना गया है।[155]

यह आश्रम वेदाध्ययन के लिए माना गया है।[156] वेद को ब्रह्म कहा जाता है, इसीलिए इसके अध्ययन का व्रत ब्रह्मचर्य तथा अध्येता को ब्रह्मचारी कहा गया है– 'ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी।[157] मानसिक क्षमता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है, इसीलिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक माना गया है।

गृह्यसूत्रों से पता चलता है कि उपनयन संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता है।[158] अध्ययन काल की समाप्ति अथवा अधिकतम 25 वर्ष की उम्र तक इस आश्रम का पालन अनिवार्य किया गया है।

महाभारत के अनुसार ब्रह्मचारी को अन्तर–वाह्य की शुद्धि, वैदिक संस्कार और व्रत नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में करना चाहिए।[159] इसी ग्रन्थ में गुरूकुल में रहकर उसके द्वारा विहित कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।[160]

डा0 ओम प्रकाश के अनुसार ऋग्वेद के गायत्री मन्त्र में भी इसी बात पर विचार करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी के दो प्रमुख उद्देश्य बुद्धि का विकास और चरित्र का निर्माण थे।[161]

मनु के अनुसार विद्यार्थियों के दो वर्ग होते थे[162]–

उपकुर्वाण– जो शिक्षा समाप्ति के बाद विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

नैष्ठिक– जीवनभर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने तथा समस्त जीवन शिक्षा में लगाने वाले विद्यार्थी।

उपनयन संस्कार से पूर्व मनुष्य का जीवन अनुशासनहीन और अनियन्त्रित तथा निरूद्देश्य होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के प्रारम्भ में यह संस्कार उसे नियमित जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है तथा इसी संस्कार के बाद उसे 'द्विज' भी कहा जाता है। वेदाध्ययन कर वह अपने तीन ऋणों में ऋषि ऋण से मुक्ति पाता है। वैदिक काल में कन्याओं का भी उपनयन संस्कार होता था, परन्तु 400 ई0पू0 के लगभग कन्याओं का उपनयन संस्कार बन्द कर विवाह को ही उपनयन संस्कार के समान माना जाने लगा।[163]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है। जिसकी इन्द्रिया वश में नहीं होती वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतः ब्रह्मचारी को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और अत्यधिक हर्ष का त्याग करना चाहिए।[164] इन्हीं सब बातों का उल्लेख गीता तथा मनुस्मृति में भी मिलता है।[165] मनु ने लिखा है कि बिना चरित्र–निर्माण के ज्ञान की प्राप्ति व्यर्थ है और

चरित्र–निर्माण के लिए इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य है। इससे यह पता चलता है कि प्राचीन भारतीय विद्वान यह भली–भॉति समझते थे कि यदि ब्रह्मचारी आत्म–संयम और अनुशासन की शिक्षा प्राप्त नहीं करता तो उसका ज्ञान स्वयं उसकी अपनी और समाज की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि योगसूत्र में ब्रह्मचर्य पालन का परिणाम शक्तिलाभ बताया गया है– 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।' इसके विपरीत ब्रह्मचर्य का पालन न करने पर आयु, तेज, बल, वीर्य, प्रज्ञा, लक्ष्मी, कीर्ति, पुण्य, प्रीति सब कुछ नष्ट हो जाता है–

'आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा महद्यशः।
पुण्यं च प्रीतिमत्त्वं च हन्यतऽब्रह्मचर्यया।।'[166]

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए निर्दिष्ट एक वैज्ञानिक जीवन पद्धति है। अतः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम की सफलता का मूलमन्त्र भी है।

गृहस्थाश्रम–

चार आश्रमों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है। 'गृहस्थ' शब्द का अर्थ है– पाणिग्रहीती (पत्नी) को प्राप्त करने वाला–

'कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्।'[167]

यहाँ पर गृह से तात्पर्य भवन से न होकर गृहिणी से है।[168] इसलिए गृहस्थ वह आश्रम है जिसमें ब्रह्मचर्य आश्रम में स्नातक द्वारा समावर्तन संस्कार पूरा करके गृहिणी को प्राप्त किया जाता है तथा वंश परम्परा को बनाए रखने के लिए पुत्र उत्पन्न किया जाता है।[169]

वस्तुतः गृहस्थ आश्रम मानव जीवन की पूर्णता का आश्रम है। यहाँ पर स्त्री–पुरूष एक दूसरे के पूरक होते हैं क्योंकि इस आश्रम में लौकिक तथा पारलौकिक कर्तव्यों के पालन के लिए पत्नी का सहयोग प्राप्त करते हुए जीवन यापन किया जाता है। इसीलिए मनु ने भी कहा है कि स्त्रियों के लिए यह आश्रम सर्वथा सेव्य है।[170]

गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए मनु ने लिखा है कि गृहपति को दस प्रकार के धर्म का पालन करना चाहिए–

'दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधे दशकं धर्मलक्षणम्।।' (मनु0, 6.91–92)

इसका कारण यह बताया गया कि परलोक में माता, पिता, पुत्र, भार्या जैसे स्वजन साथ नहीं दे सकते, केवल धर्म ही सहायक होता है।[171] अतिथि सेवा गृहस्थ का परम कर्त्तव्य माना गया है तथा केवल अपने लिए ही भोजन पकाना निन्दनीय कहा गया है।[172] कौटिल्य ने भी गृहस्थ के चार प्रमुख कर्त्तव्य बताए है[173]–

- अपने धर्म (विहित कर्मों) के अनुकूल जीवन यापन,
- विधि पूर्वक विवाह करना,
- अपनी पाणिग्रहीती पत्नी से ही सम्पर्क रखना, और
- देवो–पितरो तथा भृत्यों आदि को भोजनादि से संतुष्ट करने के बाद स्वयं अवशिष्ट भोजन ग्रहण करना।

सामाजिक व्यवस्थाकारों ने गृहस्थ द्वारा कुछ अन्य कर्त्तव्यों को भी करने का निर्देश दिया है जिसमें पाँच ऋणों से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक माना गया है।[174]

देवऋण – यज्ञानुष्ठान द्वारा

ऋषि ऋण – अध्ययन द्वारा

पितृ ऋण – सन्तानोत्पत्ति द्वारा

अतिथि ऋण – अतिथि सेवा द्वारा

भूत ऋण – अन्य प्राणियों की यथाशक्ति सेवा एवं रक्षा द्वारा।

इसी तरह गृहस्थ आश्रम में ही पंच महायज्ञों को सम्पन्न कर गृहस्थ अपने को नैतिक रूप से मजबूत बनाता था।[175]

ब्रह्म या ऋषि यज्ञ – अध्ययन– अध्यापन करके;

पितृ यज्ञ	–	पितरो को तर्पण (श्राद्ध) देकर,
देव यज्ञ	–	होम (अग्नि में आहुति देकर),
भूत यज्ञ	–	अन्य प्राणियों की यथाशक्ति भरण–पोषण एवं देखरेख द्वारा,
नृ यज्ञ	–	अतिथि पूजन (सत्कार) द्वारा।

इसी आश्रम में षोडस संस्कारों में से–विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण तथा कर्णवेध जैसे दस संस्कारों का सम्पादन भी वह करता था।

अतः पंचमहायज्ञों तथा ऋणों की व्यवस्था मनुष्य की सामाजिक, धार्मिक और नैतिक उन्नति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि गृहस्थाश्रम कर्मभूमि है तथा त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति इसी आश्रम में की जा सकती है। इसीलिए गृहस्थ के लिए विभिन्न कर्त्तव्य निर्धारित किए गए जिससे वह सारे दायित्वों का न्यायसंगत ढंग से निर्वाह कर सकें।

इसीलिए धर्मसूत्रों में कहा गया है कि आरम्भ में केवल यही एक आश्रम था तथा बाद में भी यह महत्वपूर्ण आश्रम माना गया।[176] महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ का जीवन श्रेष्ठ और पवित्र है तथा इसी के द्वारा मनुष्य जीवन का लक्ष्य पूरा कर सकता है।[177] इस आश्रम में व्यक्ति सामाजिक जीवन का अध्ययन करता हुआ पंचमहायज्ञ तथा ऋणों से मुक्ति प्राप्त करते हुए पुरूषार्थों में त्रिवर्ग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करता था और यहीं पर वह परिवार के सभी सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता था।[178]

वानप्रस्थ आश्रम–

'वानप्रस्थ' शब्द का अर्थ है– 'वन की ओर प्रस्थाना' मनु के अनुसार जब गृहस्थ के सिर के बाल सफेद होने लगे, शरीर पर झुर्रिया पड़ने लगे तथा उसके पौत्र हो जाएं तब उसे अरण्य का आश्रय ले लेना चाहिए। वह आगे लिखता है कि उसे ग्राम्याहार तथा भौतिक सम्पत्ति आदि सबको त्याग कर, पत्नी को पुत्र के हाथों सौंपकर अकेले अथवा पत्नी सहित अरण्यवास करना

चाहिए।[179] यहाँ पर पत्नी को भी वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की अनुमति दी गई है–

'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेन् सहैव वा।' (मनु0, 6.8)।

महाभारत में भी कहा गया है कि गृहस्थ को अपने समस्त दायित्वों और कर्त्तव्यों से निवृत्त होकर आयु के तीसरे भाग में वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।[180] इस समय वह गृहत्यागी होता था और जितेन्द्रिय होकर रहता था। इसी को 'वैखानस मार्ग' भी कहा गया है।[181]

बौधायन धर्मसूत्र (3.38) में वानप्रस्थ के दो प्रकार बतलाए गए है– पचमानक– जो अपना भोजन स्वयं पकाकर खाते थे।
अपचमानक– जो शाक और फल खाकर उदरपूर्ति करता था। जबकि वैखानस धर्म सूत्र में वानप्रस्थों के सपत्नीक और अपत्नीक के रूप में दो भेद बतलाए गए है।

मनुस्मृति (6.1–32) में वानप्रस्थी के दैनिक कर्त्तव्यों को बताते हुए लिखा है कि 'वह वन में मिलने वाले कन्दमूल–फल, शाक आदि का भोजन करता है, मांस खाने का निषेध था, वह मृगचर्म या वृक्ष की छाल पहनता है, भूमि पर सोता है तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। वह सदैव वेदाध्ययन में लगा रहता है, सुख–दुःख, मान–अपमान जैसे द्वन्दों को सहन करता है, सबसे मैत्रीभाव रखता है। जो कुछ उससे हो सकता है वह दान देता है, परन्तु किसी से दान ग्रहण नहीं करता, सभी प्राणियों पर दया करता है, प्रतिदिन प्रातः, दोपहर एवं सायंकाल स्नान तथा संध्या करता है, गृहस्थ आश्रम में सम्पन्न किए जाने वाले पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान यहाँ पर भी करता हैं। धीरे–धीरे अपने तपस्या में वृद्धि करते हुए ग्रीष्म में पंचग्नितप सहन करता है, वर्षा ऋतु में खुले स्थान में निवास करता है और हेमन्त में गीला परिधान पहनता है।'

इस प्रकार कठोर नियमों का पालन करते हुए वानप्रस्थी अपने शरीर की शुद्धि करता था तथा विद्यारूपी तपस्या का उत्कर्ष करके अपने मन को सांसारिक विषयों से हटाने का प्रयास करता था।[182]

'ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते।।' (महा0, अनुशासन पर्व, 1.41)।

वानप्रस्थ आश्रम का पालन करते हुए व्यक्ति दूसरों के साथ आत्मीयता को पूरी तरह से छोड़ता नहीं था, बल्कि सभी प्राणियों के प्रति वह दयाभाव रखता था। वन में कण्व ने शकुन्तला का तथा वाल्मीकि ने सीता का भरण–पोषण किया था। श्रवणकुमार ने भी अपने वानप्रस्थी अन्धे माता–पिता की सेवा की थी।

कुछ यूनानी लेखकों ने तपस्वियों का यथार्थ वर्णन किया है। दंडमिस नाम के तपस्वी ने सिकन्दर द्वारा दिए जा रहे प्रचुर धनराशि को लेने से मना कर दिया था।[183]

अतः उत्तर भारत के सामाजिक जीवन में वानप्रस्थियों का महत्वपूर्ण स्थान था। इस आश्रम को लगभग 50 वर्ष से 75 वर्ष की उम्र के मध्य रखा गया है। इस आश्रम में व्यक्ति परिवार की अपेक्षा समाज का सदस्य हो जाता है। वह धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कर अपने मोक्ष के लिए प्रयास करते हुए समाज की उन्नति में सहयोगी होता था तथा वानप्रस्थ आश्रम में अर्थ और काम का कोई महत्व नहीं था, यहां व्यक्ति केवल मुख्य रूप से धर्म और मोक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करता था।

सन्यास आश्रम–

'सन्यास' शब्द का अर्थ है– 'सम्यक रूप से त्याग'–

'सम्यक न्यासः प्रतिग्रहाणां सन्यासः।' (बौधायन ध0सू0, 10.1)।

लेकिन भौतिक पदार्थों का त्याग मात्र सन्यास नहीं है बल्कि यह राग–द्वेष, मोह–माया जैसे आन्तरिक भावों का त्याग भी है। भगवद्गीता (5.3) में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सन्यासी वह है जो न किसी से द्वेष करता है और न ही स्नेह–

'ज्ञेयः स नित्यं संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।'

महाभारत में ही लिखा है कि सन्यासी की दृष्टि में पाषाण और कांचन,

शत्रु, मित्र, उदासीन आदि सब समान होते है।[184]

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में सन्यास आश्रम का उल्लेख न होने की वजह से रीज डेविड जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इसका प्रचलन बुद्ध काल के बाद ही हुआ होगा[185] लेकिन डा0 रोमिला थापर ने सन्यास अथवा योग के इतिहास को प्राक्–इतिहासकालीन माना है तथा हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त 'पशुपति' की मुहर को इसका प्रारम्भिक चरण दिखाया है।[186]

डा0 रोमिला थापर ने सन्यास अपनाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया है– एक वह जो व्यक्तिगत रूप से अपने को पूर्णतः अलग करके सन्यासी हो जाता था और दूसरा वह जो संसार त्यागियों के समूह में मिलकर रहता था। पहला वर्ग 'योगी' का था और दूसरा वर्ग 'त्यागी' का ऐसे त्यागी सन्यासी की श्रेणी से सम्बन्धित थे। किन्तु पहले वर्ग के योगी 'समाज में' विरले ही पाये जाते थे।[187]

सन्यासी के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि इसमें व्यक्ति यज्ञोपवीत, शिक्षा आदि चिह्नों तथा पंचमहायज्ञ के लिए स्वीकृत गृहाग्नि का त्यागकर गेरूआ (काषाय) वस्त्र धारण करता था। वह निरपेक्ष तथा एकाकी जीवन बिताये, इन्द्रियों को विषयों से दूर करने के लिए अल्पभोजन तथा एकान्तवास करे, दिन में केवल एक बार भिक्षा ग्रहण करें, गॉव में एक दिन तथा नगर में पॉच दिन से अधिक न रूके, अहिंसा को अपनाते हुए सभी प्राणियों के परोपकार के लिए कार्य करे।[188] इस तरह समूचा विश्व उसका अपना परिवार तथा आत्मा की खोज और मोक्ष की प्राप्ति करना उसका लक्ष्य बन जाता था–

'इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण वा।
अहिंसया च भूतनाममृतत्वाय कल्पते।।' (मनु0, 6.60)।

डा0 पी0वी0 काणे[189] ने वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम में तीन भेद बताए है–

- वानप्रस्थी सपत्नीक भी हो सकता था, किन्तु सन्यासी अग्नि का तयाग कर देते थे।

- वानप्रस्थी यज्ञ की अग्नि रखते थे और यज्ञ करते थे, किन्तु सन्यासी अग्नि का त्याग कर देते थे।
- वानप्रस्थी तपस्वी का जीवन बिताते थे, आहार आदि का कष्ट सहन करते थे, लेकिन सन्यासी भूख–प्यास का परवाह न करके परमतत्व का चिन्तन करने में अपना समय बिताता था।

इस प्रकार सन्यास आश्रम में सन्यासी केवल मोक्ष की प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करता था। इस आश्रम में धर्म और मोक्ष का समन्वय हो जाता है। सन्यासी समाज के लिए भार स्वरूप नहीं था बल्कि वह समाज से पूरी तरह अलग होकर भी अपने दृढ़ अनुशासन, संयम, तपश्चर्या, निवृत्ति, अहिंसा और विराग से समाज को सही मार्ग पर ले जाने का कार्य करता है। अपनी उन्नत प्रज्ञा–बुद्धि, आध्यात्मिक जीवन–वृत्ति और मानवतावादी चिन्तना से वह अपना व्यक्तित्व ही नही निखारता था, बल्कि समाज को भी सन्मार्ग पर उन्नत करता था। समाज के लोग उसके अनुशासनात्मक अध्यात्म और सन्यस्त जीवन से आलोकित होते, शिक्षा ग्रहण करते और भविष्य के लिए प्रेरणा प्राप्त करते थे।

इस प्रकार पुरूषार्थ तथा आश्रम व्यक्ति, परिवार एवं समाज में अनुशासन तथा सन्तुलन बनाए रखने के लिए बहुत ही आवश्यक एवं उपादेय थे और आज भी है। इनके सम्यक पालन से व्यक्ति के जीवन के विविध पक्षों जैसे शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सभी में पुष्टता तथा विशिष्टता आती है। कर्म प्रधान कल्याणकारी जीवन का भी विकास होता है। इससे व्यक्ति तथा समाज के बीच सम्बन्ध बढ़ता है तथा सर्वोच्च नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का विकास होता है जिससे मानवतावादी समाज के निर्माण के साथ ही व्यक्ति में व्यावहारिक जीवन का विकास होता है। इसीलिए आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को सभी आश्रमों में सबके साथ अहिंसा का व्यवहार करना चाहिए और सत्य, पवित्रता आदि गुणों का पालन करना चाहिए। साथ ही ईर्ष्या तथा निर्दयता से बचना चाहिए। धैर्य से काम करना चाहिए तथा दूसरे के अच्छे गुणों की प्रशांसा करनी चाहिए।

धर्म की भावना पहले तीनों आश्रमों में प्रमुख रहती है। अर्थ तथा काम उसके नियन्त्रण में रहते है। श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि मनुष्य को इस संसार में सभी कार्य अनासक्त भाव से करने चाहिए। उसका उद्देश्य मनुष्य मात्र की भलाई होना चाहिए। हमारे समस्त कार्य ब्रह्म को अर्पित होने चाहिए। इस प्रकार कर्म करके हम कर्म–बन्धन से मुक्त हो सकते हैं और 'मोक्ष' प्राप्त कर सकते है।[190]

अतः भारत के प्राचीन समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने मुनष्य के लौकिक जीवन को एक यात्रा के समान मानते हुए उसे संयमित और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर धर्म, अर्थ और काम के सम्यक प्रयोग द्वारा पारलौकिक जीवन में मोक्ष प्राप्ति के लिए आश्रम एवं पुरूषार्थ की संयोजना किया गया जिससे व्यक्ति सही दिशा में जाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से देखा जाय तो आश्रम व्यवस्था का दर्शन प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाकारों के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है।

लेकिन आज के समय में समाज ने इन सब विधि–विधानों को भूला दिया है जिससे समाज में अनैतिकता, व्यभिचार, बलात्कार, हिंसा, लूट–खसोट तथा हत्याएं बढ़ रही है। व्यक्ति अधिक धन संग्रह करने के चक्कर में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहा है। अतः इन सब बुरे आचरणों से बचने के लिए तथा समाज को गर्त में जाने से रोकने के लिए हमें अपने प्राचीन भारतीय समाज की ओर देखना होगा और यह मात्र उत्तरी भारत के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व समुदाय के लिए उपादेय है। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर पुरूषार्थ एवं आश्रम व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करते हुए विश्व समुदाय के उचित विकास और उन्नति के लिए इसे उपयोगी बनाया जा सकता है।

संस्कार एवं उसका स्वरूप–

'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की –'सम्' पूर्वक 'कृञ्' धातृ से 'घञ्' प्रत्यय करके की गई है (सम् + कृञ् + घञ् = संस्कार)[191] प्राचीन

विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में करते हुए इसे व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।[192]

अंग्रेजी के 'Ceremony' और लैटिन के 'Caerimonia' शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि इसमें न केवल वाह्य–कर्मकाण्डों का ही स्थान है बल्कि इसके साथ आन्तरिक विचार, अन्तर्निहित धार्मिक भावना, औपचारिक नियम, आध्यात्मिक विधान, अनुष्ठान आदि बहुत सी बातों को एक ही साथ समाहित किया गया।[193]

संस्कार शब्द अंग्रेजी के 'Sacrament' शब्द के अधिक नजदीक है जिसका अर्थ है, 'धार्मिक विधि–विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का वाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है।[194]

डा0 राजबली पाण्डेय के अनुसार, 'संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति की दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सकें।[195]

अन्य विद्वानों ने भी संस्कार का साधारण अर्थ शुद्धीकरण,[196] परिष्कार अथवा स्वच्छता से लिया है।[197]

अतः जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति के क्षेत्र में अपने को क्रमशः शुद्ध करने की प्रक्रिया को ही 'संस्कार' कहते हैं।

इस प्रकार आन्तरिक और वाह्य शुद्धता, नैतिकता और आध्यात्मिकता तथा जीवन की परिशुद्धता और पवित्रता संस्कारों के माध्यम से मानी गई हैं इसलिए संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति का समाजीकरण होता है और वह अपने दायित्वों के प्रति भी जागरूक होता है। यह सब संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर किया जाता है। अतः इस शुद्धता को बनाए रखने लिए, जिसके द्वारा जीवन के प्रत्येक स्तर पर अपने अशुचि विचारों, क्रियाओं तथा अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों का बहिष्कार कर पवित्र, नैतिक, आध्यात्मिक आदि गुणों के संवरण करने को संस्कार करते हैं। यह भी महत्वपूर्ण

है कि बालक मॉ के गर्भ से ही अपने इन गुणों का परिपालन और अवगुणों का बहिष्कार करता रहे, इसीलिए संस्कार का सम्बन्ध बालक के गर्भस्थ होने के पूर्व से ही किया गया है। लेकिन इसका महत्व केवल भौतिक जीवन तक ही नहीं माना गया है, अपितु उसके बाद के जीवन में भी इसे स्वीकार किया गया है। इसीलिए मृत्यु के बाद तक हमारे जीवन में संस्कार को जोड़ दिया गया है।

संस्कारों का प्रारम्भ वैदिककाल में हो चुका था, लेकिन वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। डा0 ओम प्रकाश के अनुसार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में विवाह, गर्भाधान तथा अन्त्येष्टि की जानकारी मिलती है। जबकि गोपथ तथा शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय उपनिषद में उपनयन, गोदान तथा समावर्तन संस्कार पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सबसे पहले गृह्यसूत्रों में ही संस्कारों की पूरी पद्धति का वर्णन मिलता है।[198]

गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या पर परस्पर मतभेद पाया जाता है, क्योंकि आश्वलायन ने ग्यारह तथा पारस्कर एवं बौधायन ने तेरह संस्कारों का उल्लेख किया हैं परन्तु इन विचारकों ने सबसे पहले विवाह संस्कार का ही उल्लेख किया है जो सैद्धान्तिक रूप से अनुचित प्रतीत होता है, क्योकि भारतीय परिवार में विवाह संस्कार तो जीवन के बीच में होता है। इसका कारण यह है कि इन विचारकों ने पिता की ओर ध्यान केन्द्रित करके बालक का संस्कार निर्धारित किया है, जबकि बालक की ओर ध्यान केन्द्रित करके इसकी गणना करनी चाहिए थी। पाराशर, आश्वलायन तथा बौधायन को छोड़कर, अधिकतर गृह्यसूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख नहीं है क्योंकि वह अशुभ माना जाता था।[199]

गौतम धर्मसूत्र में संस्कारों की संख्या चालीस दी गई है[200]– 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. अन्नप्राशन, 7. चौल, 8. उपनयन, 9–12. वेदों के चार व्रत, 13. स्नान, 14. विवाह 15–19. पंच दैनिक महायज्ञ 20–26. सात पाकयज्ञ 27–33. सात हविर्यज्ञ 34–40. सात सोमयज्ञ।

लेकिन अधिकतर धर्मशास्त्रकारों ने वेदों के चार व्रतों, पंच दैनिक

महायज्ञों, सात पाकयज्ञों, सात हविर्यज्ञों और सात सोमयज्ञों का वर्णन संस्कारों में नहीं किया है।

स्मृतियों में पूर्ण व्यावहारिक दृष्टि से संस्कारों की संख्या का उल्लेख किया गया है। मनु ने तेरह संस्कारों का वर्णन किया है– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। इन्हीं संस्कारों को थोड़े अन्तर से, गौतम को छोड़कर लगभग सभी सूत्रकारों एवं स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने केशान्त का वर्णन नहीं किया है।[201] क्योंकि सम्भवतः उस काल तक वैदिक ग्रन्थो के अध्ययन का प्रचलन बन्द हो गया था।

इस समय सर्वाधिक लोकप्रिय संस्कार सोलह है, यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में उनके नाम भिन्न–भिन्न है।[202] आधुनिकतम पद्धतियों में भी यही संख्या मान्य है क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती की 'संस्कार विधि' और पण्डित भीमसेन शर्मा की 'षोडश संस्कार विधि' में भी केवल सोलह संस्कारों का ही समावेश किया गया है जो इस प्रकार है–

1. गर्भाधान 2. पुसंवन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म
5. नामकरण 6. निष्क्रमण 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकरण
9. कर्णवेध 10. विद्यारम्भ 11.उपनयन 12. वेदारम्भ
13. केशान्त अथवा गोदान 14. समावर्तन 15. विवाह
16. अन्त्येष्टि संस्कार।

उपर्युक्त संस्कारों में गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन को प्राग् जन्म संस्कार कहा गया है जबकि जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण तथा कर्णवेध को बाल्यावस्था के संस्कार माना गया है। इसके बाद शैक्षणिक संस्कारों का क्रम आता है तथा अन्त में विवाह एवं अन्त्येष्टि को रखा गया है। इन संस्कारों का वर्णन इस प्रकार है–

गर्भाधान संस्कार–

गर्भाधान का अर्थ है– गर्भ का आधान, गर्भ स्थापित करना।' विवाह के

बाद सन्तान की कामना से जिस कर्म द्वारा गर्भ धारण किया जाय उसे गर्भाधान कहा जाता है– 'गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थ कर्मनामधेयम् ।[203]

शौनक का भी कथन है कि– जिस कर्म की पूर्ति में स्त्री (पति द्वारा) प्रदत्त शुक्र धारण करती है, उसे गर्भालम्बन' कहते हैं। पराशर के अनुसार स्त्री के ऋतु काल में यदि पुरूष समागम नहीं करता तो वह भ्रूणहत्या का भागी होता है।[204] इसीलिए गर्भाधान को 'ऋतुगमन' भी कहा गया है। सुश्रुत की मान्यता है कि स्त्री ऋतु काल में चौथे दिन शुद्ध मानी जाती है।[205] इसीलिए गृह्यसूत्रों में इसे 'चतुर्थी कर्म' भी कहा गया है। अतः इस समय वर और वधू अवश्य ही युवा रहते रहे होंगे।

गर्भाधान के लिए दिन का समय निषिद्ध माना गया है जबकि रात्रियों में भी आधी रात्रि के समय को श्रेष्ठ माना गया है।[206]

ऋतु स्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भधारण के लिए उपयुक्त बताया गया है। परन्तु इसमें भी प्रथम चार, 8वीं, 11वीं, 13वीं से 15वीं, 18वीं और 30वीं रात्रियां और सम्पूर्ण पर्व की रात्रियों का निषेध किया गया है।[207] पुत्र के लिए सम रात्रि तथा पुत्री के लिए विषम रात्रि मे गर्भाधान करना चाहिए।[208] यह संस्कार व्यक्ति के जीवन में केवल एक ही बार किया जाता था।[209]

गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य था– स्वस्थ, सुन्दर, गुणवान तथा सच्चरित्र सन्तान को जन्म देना, क्योंकि यह स्त्री पुरूष द्वारा किया जाने वाला काम–क्रीड़ा मात्र नहीं है बल्कि इससे परिवार तथा समाज को एक नया सदस्य मिलता है। इसीलिए इसे एक सामाजिक तथा धार्मिक संस्कार बना दिया गया।

पुंसवन संस्कार–

गर्भधारण का निश्चय हो जाने के बाद इस संस्कार को किया जाता था। पुंसवन का अभिप्राय सामान्यतः उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से पुं = पुमान् (पुरूष) का जन्म हो– 'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम् ।[210]

आश्वलायन गृह्यसूत्र (14.9) में भी कहा गया है कि वह कर्म पुंसवन माना जाता है जिसके करने से गर्भिणी स्त्री, पुरूष सन्तान को ही उत्पन्न करे–

'पुंसवनमिति कर्मनामधेयं येन कर्मण निमित्तेन गर्भिणी पुंसामेव सूते तत्पुंसवनम्।'

याज्ञवल्क्य (1.11) इसे पुत्र के लिए किया गया यज्ञ कहते है–

'गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनम् स्पन्दनात्पुरा।'

इस कर्म को करने के लिए विभिन्न मासों तथा ऋतुओं का उल्लेख किया गया है जबकि अष्टांग संग्रह के अनुसार सामान्य धारणा यह थी कि गर्भधारण का निश्चय हो जाने के बाद तथा गर्भ के अभिव्यक्त होने के पूर्व यह संस्कार किया जाता था–

'लब्धगर्भा चैनां विदित्वा प्राक् व्याक्तीभावात् गर्भस्य पुंसवानि प्रयुंजीत।'

इस संस्कार को करने के लिए चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने को भी उचित माना गया है।[211]

डा0 पी0वी0 काणे के अनुसार होम आदि धार्मिक तथा जौ, दही आदि प्रतीकात्मक और नाक में डालने वाले औषधि आदि तत्व इस संस्कार की क्रिया में पाये जाते है।[212] आयुर्वेद की दृष्टि से भी यह संस्कार बहुत ही महत्वपूर्ण था क्योंकि गर्भवती स्त्री के नाक के दाहिने छिद्र में वटवृक्ष की छाल का रस डाला जाता था ताकि उसे गर्भपात न हो।[213] इसी संस्कार में पति द्वारा पत्नी का हृदयस्पर्श कर प्रजापति से उसके अन्दर पल रहे बालक की रक्षा के लिए प्रार्थना की जाती थी जिससे पत्नी को भी मनोवैज्ञानिक सुरक्षा मिलती थी।

सीमन्तोन्नयन संस्कार–

गर्भावस्था के तीसरे तथा अन्तिम इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के केशो (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता है–

'सीमन्तः उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।'[214]

इस संस्कार का स्वरूप मांगलिक था। ऐसी मान्यता थी कि गर्भकाल में कुछ दुष्ट शक्तियां विघ्न–बाधाओं के साथ गर्भपात कराने की कोशिश करती है

जिसे रोकने के लिए इस संस्कार को किया जाता है।[215] इस संस्कार में गर्भवती स्त्री को सुजनन तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों का भी ज्ञान कराया जाता था। इसमें स्त्री को आत्मिक संतुष्टि तथा प्रसन्नचित्त रखने का भी प्रयास किया जाता है जिससे स्वस्थ, बुद्धिमान तथा वीर पुत्र का जन्म हो।

यह संस्कार आयुर्वेदिक ज्ञान पर भी आधारित था क्योंकि आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि 'गर्भधारण के समय से उसे मैथुन, अतिश्रम, दिवा–शयन, रात्रि–जागरण, वाहन पर चढ़ने, भय, मुर्गे की तरह बैठने, रेचन, रक्त बाहर निकालने तथा मल–मूत्र के असामयिक स्थगन आदि का वर्जन करना चाहिए।[216] इस समय पति का भी यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपनी पत्नी के स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल एवं सभी तरह की सहायता प्रदान करें।[217]

इस प्रकार इस संस्कार द्वारा गर्भवती स्त्री की शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव सावधानी रखी जाती थी।

जातकर्म संस्कार–

बाल्यावस्था के संस्कारों की शुरूआत जातकर्म से होता है। यह संस्कार बच्चे के जन्म लेते ही प्रारम्भ होता है।[218] मनु (2.29) के अनुसार नाभिछेदन (नार काटने) से पहले ही इस संस्कार को कर लेना चाहिए।

सबसे पहले पिता समाज को बालक के जन्म की सूचना देता है और कहता है कि– हे बालक, मैं तुझको ईश्वर का बनाया हुआ घृत और शहद (सोने के चम्मच से) चटाता हूँ जिससे कि तू विद्वानों द्वारा सुरक्षित होकर इस लोक में सौ वर्ष तक धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करें।[219] आयुर्वेद के अनुसार शहद से पित्त और घी से कफ का शमन होता है एवं घी और सोने के संयोग से बुद्धि प्रखर होती है।

अन्त में माता बालक को अपने स्तनों से पहली बार दूध पिलाती थी तथा बालक की नाल भी काटी जाती थी। अतः ये सारी क्रियाएँ जच्चा और बच्चा दोनों की सुरक्षा के लिए की जाती थी।[220]

नामकरण संस्कार–

प्राचीन समय में विद्वान–ऋषियों ने व्यक्तिगत नाम के महत्व को समझा और नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार का रूप दे दिया। आधुनिक मनोविज्ञान तथा आंकिक ज्योतिष की भी मान्यता है कि बार–बार उच्चारित शब्दों का मनुष्य के मन एवं शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

प्राचीन विद्वानों ने संस्कार के लिए अलग–अलग दिन निश्चित किए हैं जिसमें जन्म के 10वें दिन से लेकर 30वें दिन तक को मान्यता मिली है।[221] इसमें 12वॉ दिन उचित लगता है क्योंकि आज भी बरही, अर्थात जन्म के 12वें दिन की होने वाली क्रिया के साथ बच्चे का नाम रखा जाता है।

मनु (2.31, 33) के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का नाम नम्रता और सेवाभाव का सूचक होना चाहिए, जबकि स्त्रियों का नाम सरल, स्पष्ट, मनोहर तथा मंगलसूचक होना चाहिए–

''मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।'
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विष्पष्टार्थ मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।।''

मनु (2.32) का यह भी कहना है कि 'ब्राह्मण के नाम के साथ शर्मा, क्षत्रिय के नाम के साथ वर्मा, वैश्य के नाम के साथ गुप्त तथा शूद्र के नाम के साथ दास शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।' वह नक्षत्र जिसमें शिशु का जन्म हुआ हो, उस मास के देवता, कुलदेवता तथा लोकप्रचलित सम्बोधन के अनुसार भी नाम रखे जाते थे।[222]

इस संस्कार में किसी शुभ और मंगल घड़ी में देवपूजन और यज्ञाहुति तथा नामकरण के बाद माता अपने बच्चे को वस्त्र से ढँककर तथा उसके सिर को जल से पवित्र करके पिता की गोद में रख देती थी और उसके बाद विभिन्न देवताओं का पूजन करके देवता, अग्नि, सोम आदि को आहुतियाँ दी जाती थी।[223]

इस प्रकार प्राचीन मनीषियों का अटूट विश्वास था कि बच्चे का नाम उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अतः इसे एक संस्कार का रूप दिया गया।

निष्क्रमण संस्कार–

इस संस्कार द्वारा बच्चे को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता था जिससे वह प्रकृति का सानिध्य प्राप्त करे तथा सूर्य का भी दर्शन करे। बच्चे के समुचित विकास के लिए स्वच्छ प्राकृतिक वायु तथा सूर्य का प्रकाश परम आवश्यक है।

'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।'

(पारस्कर गृ0सू0, 1.17)।

इसमें एक निश्चित मांगलिक तिथि में[224] देवताओं का पूजन–वन्दन करते हुए वैदिक मन्त्रों का पाठ किया जाता है तथा बच्चे को माता–पिता द्वारा सूर्य का दर्शन कराया जाता है। साथ ही समाज के अन्य व्यक्तियों से भी उसका सम्पर्क होता है।

अन्नप्राशन संस्कार–

बच्चे के पॉच–छः महीने से लेकर 12वें महीने के होने तक जब उसके दॉत आने लगे तब इस संस्कार को सम्पन्न करने का विधान था। विशेषतया छठे महीने में इसे सम्पन्न करने का विधान मान्य था।[225] बच्चे के शारीरिक विकास के लिए तथा आवश्यक पोषक पदार्थों की पूर्ति के लिए अब मॉ के दूध के साथ–साथ अन्न की भी आवश्यकता पड़ती है।

इस संस्कार में दूध, मधु, घी, दही और पका हुआ चावल (भात) बच्चे के मुख से स्पर्श कराने का विधान है। इस समय होम करना, देवताओं को आमंत्रित करना तथा मन्त्रों का उच्चारण करना अनिवार्य होता है।

चौल या चूड़ाकरण–

बच्चे के गर्भ के समय से ही सिर पर रहने वाले कोमल बालों को पहली बार हटाने के लिए यह संस्कार किया जाता है।

धर्मशास्त्रकारों ने बच्चे के जन्म से प्रथम वर्ष, तृतीय वर्ष, पॉचवे वर्ष तथा सातवें वर्ष में बालक के सिर के बाल पहली बार काटकर 'मुडन–संस्कार' कराने को उचित माना है।[226] इस संस्कार को घर के साथ ही साथ देवालयों तथा तीर्थस्थानों में भी सम्पन्न कराया जाता है। यह कार्य स्वच्छ छूरे से कराना चाहिए जिससे बच्चे के सिर में किसी प्रकार का रोग न हो। इसमें शिखा को छोड़कर गर्भकाल के सिर के सभी बाल और नख कटवा दिए जाते है। पारस्कर गृह्यसूत्र (2.1;1.2) के अनुसार चूड़ाकरण से दीर्घायु और कल्याण प्राप्त होता है। आचार्य सुश्रुत ने भी शिखा रखने को सही बताया है।[227] जबकि चरक संहिता (सूत्रस्थान, 5.93) में मुण्डन को पुष्टि, वृष्यता, आयु, स्वच्छता एवं सौन्दर्य का वर्धक माना गया है–

'पौष्टिकं वृष्यमायुष्य शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्।।

कौटिल्य के अनुसार मुंडन संस्कार के बाद बालक अक्षर लिखना और गिनती गिनना सीखते थे।[228] सम्भवतः इस संस्कार का उद्देश्य बालक को शरीर की स्वच्छता का पाठ पढ़ाना भी था।

कर्णवेध संस्कार–

यह संस्कार आभूषण–अलंकरण पहनने तथा चिकित्साशास्त्र को ध्यान में रखकर सम्पन्न किया जाता था। सुश्रुत का भी मानना है कि अण्डकोष–वृद्धि तथा अन्त्र–वृद्धि (हार्निया) के निरोध के लिए कानों का छेदन आवश्यक है।[229]

इस संस्कार को सम्पन्न करने का समय जन्म के प्रथम वर्ष से लेकर आठवें वर्ष तक दिया गया है लेकिन सुश्रुत ने छठा या सातवां वर्ष इसके लिए श्रेयस्कर माना है।[230]

इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कुछ धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थी। क्षत्रिय बालक का कान स्वर्ण की सुई से, ब्राह्मण और वैश्य बालक का कान चॉदी की सुई से तथा शूद्र बालक का कान लौह की सुई से छेदा जाता था।[231] प्रायः स्वर्ण अथवा ताम्र सुई की नोक से कानों का छेदन होता

था। लड़कों का सबसे पहले दाया कान छेदा जाता था जबकि लड़कियों के बाए कान को। इसके बाद कानों के ठीक हो जाने पर सुवर्ण की बाली या कुण्डल पहनाया जाता था।[232]

आजकल कान छेदने का काम सुनारों या अन्य व्यक्तियों से लिया जाता है जबकि शल्यतन्त्र विशेषज्ञ सुश्रुत कर्णवेध के लिए किसी कुशल भिषक का परामर्श देते हैं–

'भिषक् वामहस्तेनाकृष्य कर्ण' दैवकृते छिद्रे आदित्यकराव भासिते शनैः शनैः ऋजु विध्येत्।

यह संस्कार बालक के स्वास्थ्य से सम्बन्धित लगता है।

विद्यारम्भ संस्कार–

जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था, तब शिक्षा का आरम्भ 'विद्यारम्भ' संस्कार के साथ किया जाता था और उसे अक्षर सिखाए जाते थे। इस संस्कार को 'विद्यारम्भ', 'अक्षरारम्भ', अक्षरस्वीकरण, 'अक्षरलेखन' आदि नाम दिया गया है।[233]

सन्तान के जन्म के पॉचवे वर्ष अथवा उपनयन के पहले यह संस्कार सम्पादित होता था। शुभ मुहूर्त में गुरू द्वारा पट्टी पर 'ओइम्' और 'स्वास्तिक' के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को पूर्वाभिमुख करके अक्षरारम्भ कराया जाता था। इसमें गणपति–पूजन, गृह–देवता एवं सरस्वती पूजन का भी आयोजन किया जाता था, साथ में होम करने का भी विधान था। इसके बाद गुरू को वस्त्र, धन–आभूषण आदि भेंट में दिया जाता था।

उपनयन संस्कार–

इस संस्कार द्वारा बालक गुरू को समर्पित किया जाता है। इसीलिए डा0 अल्तेकर ने उपनयन का शाब्दिक अर्थ बताया है– 'उपनीयमान' अर्थात् बालक को गुरू के गृह ले जाना जिससे कि वह वहॉ शिक्षा प्राप्त करे[234]– 'उपनयनमानो ब्रह्मचारिणम्' (अथर्ववेद, 11.5.3)।

इस संस्कार को सम्पन्न करने से व्यक्ति वर्ण अथवा जाति का सदस्य

बनता था। तथा 'द्विज' कहा जाता था। शूद्र को छोड़कर अन्य तीनों वर्ण के व्यक्तियों के लिए यह संस्कार अनिवार्य था।

ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में उपवीत (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिए।[235]

इस संस्कार में आचार्य शिष्य से कहता है कि तू ईश्वर का ब्रह्मचारी है। वस्तुतः ईश्वर ही तेरा आचार्य है। मैं तो उसकी ओर से तेरा आचार्य हूँ।[236] अर्थात् ईश्वर कृपा से जो ज्ञान मैने प्राप्त किया है वही तुझे दूँगा।

यह संस्कार सम्पन्न करते समय नव तन्तुओं से निर्मित तीन डोरो वाला यज्ञोपवीत–ब्राह्मण बालक को कपास का, क्षत्रिय को सन का और वैश्य को ऊन का बना हुआ दिया जाता था। उपनयन संस्कार वाले बालक को मूँज की मेखला (कटिसूत्र) बॉधने का भी विधान था।[232]

उपनयन कराते समय ब्रह्मचारी को हाथ में दण्ड और ऊँगली में पवित्री धारण करना पड़ता था। ब्राह्मण ढाक या बेल का, क्षत्रिय बरगद का और वैश्य गूलर का दण्ड धारण करता था।[238] डा0 अल्तेकर के अनुसार इस दण्ड से विद्यार्थी अपने दुर्गम यात्रा द्वारा विद्यारूपी लक्ष्य को प्राप्त करता था।[239]

इसके बाद आचार्य बालक से पूछता था कि वह वास्तव में अध्ययन करने का इच्छुक है और ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करता है। बालक द्वारा आश्वासन मिलने पर आचार्य उसे अपना शिष्य बनाता था तथा गायत्री मन्त्र का अर्थ समझाता था।[240]

उपनयन संस्कार के अन्य कर्मकाण्डों में प्रमुख रूप से ब्रह्मचारी को स्नान कराकर कौपीन दिया जाना, आचार्य द्वारा उसके कटि के चारों ओर मेखला बाधना तथा उसे उपवीत धारण करने के लिए दिया जाना, मृगचर्म और दण्ड दिया जाना, सूर्य दर्शन, गुरू द्वारा शिष्य का हृदय स्पर्श, अश्मारोहण और हस्तग्रहण कराया जाता था।[241]

गुरू द्वारा ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाये जाने के बाद शिष्य गुरू के

तथा स्वयं के भोजन के लिए भिक्षा मांगने निकलता था[242] इससे उसमें अहं की भावना का नाश हो जाता था।

इस प्रकार उपनयन संस्कार एक प्रकार से हिन्दुओं के विशाल साहित्य–भण्डार के ज्ञान का प्रवेश–पत्र था। समाज में प्रवेश का भी वह साधन था, क्योंकि इसके बिना कोई व्यक्ति आर्य कन्या से विवाह नहीं कर सकता था।[243] इसीलिए समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी कहा है कि कुछ जातियों में सामाजिक जीवन में प्रवेश के लिए युवकों को धार्मिक निषेधों का पालन अनिवार्य रूप से करना होता है जबकि कुछ अन्य जातियों में किसी विशेष कर्म द्वारा युवक को समुदाय में प्रविष्ट किया जाता है।[244]

अतः हिन्दू समाज में उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन में अनुशासन तथा बौद्धिक विकास के योगदान से है। इस संस्कार द्वारा बालक को सादगी से जीवन जीने की शिक्षा दी जाती थी चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो। इसीलिए मनु (2, 39) का कथन है कि 'यदि कोई व्यक्ति निर्धारित अन्तिम समय के पश्चात भी अनुपनीत रह जाये, तो वह व्रात्य, सावित्री से पतित तथा आर्य समाज में विगर्हित हो जाता है।' बालक की सामाजिक और शैक्षिणिक उपलब्धियां इस संस्कार को सम्पन्न करने के बाद ही सम्भव थी। इसीलिए आज भी हिन्दू परिवारों में उपनयन संस्कार के महत्व को स्वीकार किया जाता है।

वेदारम्भ संस्कार–

प्रारम्भ में इस संस्कार को उपनयन के साथ ही मान्यता प्राप्त थी। बाद में इसे अलग से मान्यता मिली। सर्वप्रथम व्यास ने इसका संस्कार के रूप में उल्लेख किया है।[245] उपनयन के बाद गुरू के सानिध्य में पहुॅचकर शिष्य का वेदाध्ययन प्रारम्भ होता है।

केशान्त अथवा गोदान संस्कार–

ब्रह्मचारी बालक के इस संस्कार में बालो के साथ प्रथम बार उसके दाढ़ी और मूॅछ का भी क्षौर कर्म होता है।[246] मनु का कथन है कि गर्भ से सोलहवें वर्ष

ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष वैश्य का केशान्त संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[247]

इस संस्कार में वही विधि–विधान अपनाया जाता था जो चौलकर्म संस्कार में होता था।[248]

केशान्त को 'गोदान' भी कहा जाता है क्योंकि इस संस्कार के मंगलमय अवसर पर विद्यार्थी द्वारा अपने गुरू के दक्षिणा में गायों की एक जोड़ी भेंट की जाती थी।[249] कभी–कभी यह संस्कार विवाह के पूर्व सम्पादित किया जाता था।[250]

समावर्तन अथवा स्नान संस्कार–

शिक्षा समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी बालक का समावर्तन संस्कार होता था। 'समावर्तन' शब्द का अर्थ है– 'वेदाध्ययन के अनन्तर गुरूकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन।'

'तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरूकुलात् स्वगृहागमनम्।' (वीरमित्रोदय, संस्कार प्रकाश, भाग0–1, पृ0 564)

इसे 'स्नान' भी कहते हैं क्योंकि यह संस्कार का सबसे महत्वपूर्ण अंग था।[251] स्नान के बाद विद्यार्थी ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों से मुक्त हो जाता है इसलिए उसे 'स्नातक' कहा जाता है।[252] इस संस्कार को सम्पादित करने की सामान्य उम्र 25 वर्ष की मानी गयी है।[253]

संस्कार सम्पन्न करने के लिए किसी शुभ दिन का चुनाव किया जाता था और विद्यार्थी को एक प्रकोष्ठ में बन्द रहना पड़ता था। ऐसी मान्यता थी कि ब्रह्मचारी के तेज से सूर्य की देदीप्यता मन्द पड़ जाती है क्योंकि वह ब्रह्मचारी के तेज से ही चमकता है।[254] मध्याह्न के समय ब्रह्मचारी गुरू के चरणों में प्रणाम करता था और उसके बाद समिधा इकट्ठी कर हवन करता था। फिर वह इस स्थान पर रखे हुए आठ जलकलशों से स्नान कर समस्त दिशाओं में अपने ज्ञान, पवित्रता, यश, ऐश्वर्य आदि के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था–

'ओं यशसा मा द्यावा पृथिवी यशसेन्द्रा वृहस्पति।
यशो भगश्च मा विन्धशो मा प्रतिपद्यताम्।।'

इसके बाद ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला, मृगचर्म आदि को छोड़कर नई कौपीन धारण करता था तथा अपने बाल व नाखून कटवाकर स्वच्छ हो जाता था। इस अवसर पर आचार्य विद्यार्थी को सुन्दर वस्त्राभूषण, दर्पण, जल, पुष्प आदि देता था तथा यज्ञ–होम आदि कराता था।[255] साथ ही यह कामना भी करता था कि नव–स्नातक को अधिक से अधिक शिष्य प्राप्त होंगे।[256]

बालक की विदाई के समय आचार्य द्वारा उसे कुछ उपदेश भी दिया जाता था जिसका तैत्तिरीय उपनिषद (11.21–22) में विस्तार से वर्णन किया गया है– 'हे शिष्य! तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से प्रमाद मत करना, आचार्य को धन लाकर देना, सन्तानोत्पत्ति करना, शरीर को निरोग रखना, धन इकट्ठा करने में प्रमाद मत करना। माता–पिता, आचार्य अतिथि इन सभी का उचित आदर सत्कार करना। जो कार्य निन्दनीय नहीं है वही करना, दूसरे नहीं मेरे आचरण में भी जो अच्छे कार्य है उन्हीं का तुम अनुसरण करना दूसरों का नहीं।' इस प्रकार स्नातक आचार्य का आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त कर अपने गृह को प्रस्थान करता था।

विवाह संस्कार–

विवाह का हिन्दू–संस्कारों में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह समस्त गृहयज्ञों व संस्कारों का उद्‌गम केन्द्र है। विवाह का महत्व इसलिए भी था कि यह स्वयं में एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह कर गर्हस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था, उसे अयज्ञीय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।[257]

गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार के लिए उपयुक्त समय, वर और वधू की योग्यताएं और विवाह संस्कार के विभिन्न चरणों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[258] इसके अनुसार वधू कुमारी होनी चाहिए और वर की माता की सपिण्ड सम्बन्धिनी और वर के गोत्र की नहीं होनी चाहिए। इन प्रतिबन्धों का उद्‌देश्य यह था कि अति निकट सम्बन्धियों में अवांछनीय वैवाहिक सम्बन्ध न हो।

मनु0 (3.6–7) के अनुसार उन परिवारों की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए जो धर्म–पालन न करते हों, वेद न पढ़ते हो, जिनमें पुत्र जन्म न होता

हो या जिनमें कुछ पुराने रोग हो, क्योंकि पुत्र न होना और रोगों का पैतृक प्रभाव भावी सन्तान पर हो सकता है।

वर की योग्यता के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह वेदों का जानने वाला, चरित्रवान, स्वस्थ, बुद्धिमान और कुलीन होना चाहिए।[259]

विवाह सम्पन्न किए जाने के समय प्रायः 30–35 अनुष्ठान किए जाते थे जिसका वर्णन विभिन्न गृह्यसूत्रों में मिलता है।[260]

इनमें से कुछ प्रमुख प्रक्रियाएं इस प्रकार सम्पादित होती थी[261]–

- सर्वप्रथम वर पक्ष के लोग कन्या के घर जाते थे।
- जब कन्या का पिता अपनी स्वीकृति दे देता था तो वर यज्ञ करता था।
- विवाह के दिन प्रातः वधू को स्नान कराया जाता था।
- वधू के परिवार का पुरोहित यज्ञ करता था तथा कुछ स्त्रियां नृत्य गान करती थी।
- वर कन्या के घर जाकर उसे वस्त्र तथा उबटन देता था।
- कन्या औपचारिक रूप से वर को दी जाती थी (कन्यादान)।
- वर अपने दाहिने हाथ से वधू का दाहिना हाथ पकड़ता था (पाणिग्रहण)
- पाषाण शिला पर पैर रखना (अश्मारोहण)।
- वर का वधू के साथ अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा करना (अग्नि परिणयन)।
- खीलों का होम या लाजा होम।
- वर–वधू का साथ–साथ कदम चलना (सप्तपदी)। जिसका अभिप्राय था कि वे जीवन भर मिलकर कार्य करेंगे।
- अन्त में वर वधू को अपने घर ले जाता था।
- विवाह के चौथे दिन वर–वधू का मिलन (चतुर्थी–कर्म) होता था।

प्रत्येक धार्मिक कृत्य में, अग्नि में आहुति दी जाती थी तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

अतः इस संस्कार के द्वारा व्यक्ति का पूर्णरूप से समाजीकरण हो जाता था। इसमें जो धार्मिक क्रियाएं विवाह संस्कार के समय की जाती थी उनसे स्पष्ट है कि विवाह संविदा नहीं था बल्कि एक पवित्र बन्धन था। यह अटूट बन्धन था, क्योंकि पति–पत्नी का सम्बन्ध आजीवन साथ निभाने का था। इसीलिए समाज में इसे एक कर्त्तव्य बना दिया गया था और यही कारण है कि भारतीय समाज में विवाह आज भी सफल है क्योंकि यहॉ पर विवाह विच्छेद की सम्भावना बहुत ही कम है जिससे परिवार टूटने से बच जाता है और बच्चों तथा परिवार के अन्य सदस्यों को मनोवैज्ञानिक सबल प्राप्त होता है।

अन्त्येष्टि संस्कार–

यह संस्कार हिन्दू धर्म के अनुयायी के लिए अन्तिम संस्कार है, जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय भी समाप्त करता है।

इस क्रिया के प्रारम्भ होने के कारणों में मृत्यु का भय तथा उसके पश्चात भी आत्मा की मान्यता, स्नेह की भावना तथा शव से छुटकारा पाने की इच्छा एवं भूत–प्रेतों में विश्वास होना प्रमुख है।

अन्त्येष्टि के लिए प्रायः दाह–क्रिया अधिक प्रचलित थी, किन्तु जलनिखात तथा भूनिखात की भी जानकारी मिलती है।[262]

गृह्यसूत्रों से पता चलता है कि मृत्यु के आगमन तथा दाह–क्रिया के पहले अनेक क्रियाएँ करनी पड़ती थी।[263] मृत्यु के आगमन पर वह सम्बन्धियों और मित्रों को निमन्त्रित करता था तथा अपने भावी कल्याण के लिए ब्राह्मणों तथा निर्धनों को दान देता था। इस प्रक्रिया में गोदान भी महत्वपूर्ण कार्य था। व्यक्ति के मरने पर उसके दाहिने हाथ का स्पर्श करके गार्हपत्य अग्नि में शुद्ध घी से चार आहुतियां देता था तथा उसके मुख में तुलसी की पत्तियों के साथ गंगाजल की कुछ बूँदे डालते थे। होम आदि के बाद शव को अर्थी पर लिटाकर दो बैलों की गाड़ी द्वारा या सम्बनिधयों द्वारा उसे श्मशान ले जाया जाता था, जिसका

नेतृत्व साधारणतः मृतक का ज्येष्ठ पुत्र करता था। श्मशान में शव की दाह–क्रिया की जाती थी।

पारस्कर गृह्यसूत्र (3.10) में दाह–क्रिया के बाद अस्थिअवशेष को गंगा नदी में विसर्जित करने को पुण्यदायी माना गया है–

''गंगातोये च यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् कदाचन।।'
गंगातोये च यस्यास्थि नीत्वा सङ्.क्षिप्यते नरैः।
युगानान्तु सहस्राणि तस्य स्वर्गे भवेद् गतिः।।''

दाह–क्रिया से वापस लौटने पर उदक कर्म, तालाब में स्नान तथा शोकाकुल परिवार को ढाढस बंधाते हुए मृत व्यक्ति की प्रशंसा तथा प्राचीन धार्मिक साहित्य से कथाओं को सम्पन्न कराया जाता था। अशौच की क्रिया ब्राह्मणों के लिए दस दिन, क्षत्रिय को बारह दिन, वैश्य को पन्द्रह दिन तथा शूद्र को तीस दिन की मानी गई है। पिण्डदान, श्राद्धकार्य और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। ये सारे कार्य मन्त्रों द्वारा सम्पादित किए जाते थे।[264]

इस प्रकार मृतक–संस्कार को अत्यधिक सावधानी के साथ सम्पन्न कर, उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसके भावी सुख या कल्याण के लिए धार्मिक विधि–विधान एवं क्रिया–कर्म के साथ उसका अन्तिम संस्कार करते हैं।

उपरोक्त सभी संस्कार स्त्रियों और शूद्रों के भी किए जाते थे, लेकिन स्मृतिकारों का विचार है कि इनके संस्कारों में वैदिक मन्त्रों का पाठ न किया जाय।[265] 400 ई0पू0 के लगभग जब कन्याओं का उपनयन संस्कार बन्द हो गया तो विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन संस्कार समझा जाने लगा। पति की सेवा को गुरू की शिक्षा के बराबर और घर के कार्यों को अग्नि की पूजा मान लिया गया।

संस्कारों के कुछ सहायक तत्व भी थे। इनमें प्रथम व सर्वाधिक स्थायी अंग अग्नि था जो प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में प्रदीप्त किया जाता था। रोग, राक्षसी तथा अन्य अमंगलमय शक्तियों से रक्षा करने के लिए एवं समृद्धि तथा

सुखवर्धन के लिए इसके प्रत्येक पद पर स्तुति के साथ प्रार्थना की जाती थी।[266] संस्कार पर्यंत यज्ञ का विधान किया गया था जिसमें देवमन्त्र, प्रार्थना तथा आहुति दी जाती थी कि इसमें दैविक सहायता प्राप्त की जा सके। अभिषिंचन के द्वारा (स्नान या जल छिड़ककर) भूत, छूत, अशुभ का प्रतिकार होना तथा शुभ का प्रतिस्थापन माना जाता था। मांगलिक संस्कारों के लिए पूर्व दिशा की मान्यता थी जबकि अन्त्येष्टि जैसे अशुभ के लिए दक्षिण की।[267] शिलारोहण, ध्रुवदर्शन आदि प्रतीकों द्वारा सदृश्य प्रतिस्थापन की व्यवस्था थी।[268] इन संस्कारों में अशुभ का त्याग तथा समय, स्थान, नक्षत्र, भोजन सामग्री आदि को भी महत्व दिया जाता था।[269] इस तरह संस्कारों में आध्यात्मिक वातावरण बना रहता था, जिससे सबको सुख मिलता था।

समाज के विकास में संस्कारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। संस्कारों को सम्पादित करने के दो मुख्य प्रयोजन या उद्देश्य थे– एक उद्देश्य तो प्रकृति में विरोधी शक्तियों के प्रभाव को दूर करना और हितकारी शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करना था। जबकि दूसरा मुख्य उद्देश्य सांस्कृतिक था।

हिन्दुओं का यह विश्वास था कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते हैं और पशु, सन्तान, अन्न, दीर्घ जीवन, सुख–समृद्धि, स्वास्थ्य, सुन्दर शरीर, सम्पत्ति, शक्ति, वृद्धि, वैभव, तीक्ष्ण बुद्धि आदि के रूप में उनकी पूर्ति करते है।[270] 'एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु द्वे उर्जे त्रीणि रास्यपोषाय चत्वारि मायो भवाय पंच पशुभ्यः षड् ऋभ्यः।'

सुख तथा दुःख को व्यक्त करने के लिए भी संस्कारों का अनुष्ठान किया जाता था। सन्तान के जन्म, विवाह, शिशु की प्रगति की प्रत्येक अवस्था जैसे खुशी के भावों को साज–सजावट, संगीत तथा उपहारों के रूप में व्यक्त किया जाता था जबकि अन्त्येष्टि क्रिया में शोक की अभिव्यक्ति होती है।

संस्कारों का सांस्कृतिक प्रयोजन भी था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि अनेक प्रकार के संस्कारों को करने से शरीर की अपवित्रता दूर हो जाती है– सामाजिक विशेषाधिकार का भी संस्कारों से सम्बन्ध था। उपनयन संस्कार

एक प्रकार से समाज और उसके धार्मिक साहित्य में प्रवेश लेने का प्रवेश–पत्र था। 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।' इत्यादि।[271] विद्यार्थी–जीवन की समाप्ति तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए संस्कार का अनुष्ठान करना आवश्यक समझा जाता था। संस्कारों का अन्य प्रयोजन स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी था।[272]

संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों आदर्शों आदि का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसी के अनुरूप अपने कार्यों को करता है। नामकरण, जातकर्म, उपनयन, विवाह आदि ऐसे ही संस्कार है। संस्कार व्यक्ति को नैतिक दायित्वों के प्रति जागरूक करता है इसीलिए गौतम चालीस संस्कारों के साथ–ही साथ आठ आत्मगुणों दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता को भी आवश्यक मानते हैं।[273] अतः संस्कार कभी भी अपने में साध्य नहीं रहे हैं, बल्कि उनसे फूल–फलकर नैतिक सद्गुणों के रूप में परिपक्व हो जाने की अपेक्षा की जाती थीं संस्कारों में जीवन के हर एक सोपान के लिए व्यवहार के नियम (धर्म) निर्धारित हो चुके थे, जैसे गर्भिणी–धर्म, अनुपनीत धर्म, ब्रह्मचारि–धर्म, स्नातक–धर्म आदि। अतः संस्कारों का यह स्वरूप निश्चय ही संस्कारों से प्राप्त होने वाले वैयक्तिक हित की अपेक्षा उच्चतर नैतिक प्रगति को सूचित करता है।

संस्कारों का एक उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास भी था। संस्कारों की व्यवस्था इस प्रकार से की गई थी कि वे आरम्भ से ही व्यक्ति के जीवन पर ठीक प्रभाव डाले। वे पथ–प्रदर्शक का कार्य करते थे और आयु के बढ़ने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते थे। उसके लिए अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक हो जाता था तथा उसकी शक्तियाँ सुनियोजित धारा में प्रवाहमान रहती थी। उपनयन, विवाह, गृहस्थाश्रम में प्रवेश तभी कराया जाता था, जब वह इसके लिए परिपक्व हो जाता था, जिससे वह अपने व्यक्तित्व के साथ ही साथ समाज को भी सही दिशा में विकास की गति दे सके। संस्कारों के माध्यम से वह स्वार्थवृत्ति को

छोड़कर यह अनुभव करता था कि वह समाज का अंग है।

संस्कारों को सम्पादित करने से आध्यात्मिक विकास भी होता है, क्योंकि समस्त संस्कारों का प्रधान आधार धर्म है। धर्म अध्यात्म का जीवन है। संस्कारों में की जाने वाली सभी धार्मिक क्रियाएं तथा विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा–अर्चना एवं उनका दार्शनिक पक्ष व्यक्ति के साथ ही साथ समाज को भी आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित करता है। अध्यात्म से व्यक्ति नैतिक तथा चरित्रवान बनता है जिससे वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनता है। क्योंकि संस्कारों को सम्पादित करने से मनुष्य जीवन भर संयम का जीवन बिताता है और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयम में रहता है। इससे मनुष्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः संस्कारों के द्वारा सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

प्राचीन काल में चिकित्सालय का इतना विकास नहीं हुआ था कि अनेक सामाजिक तथा चिकित्सकीय समस्याओं का सामधान किया जा सके। अतः गर्भाधान तथा अन्य प्राग्–जन्म संस्कारों के माध्यम से यौन–क्रिया एवं प्रजनन शास्त्र से सम्बन्धित समस्याओं का संस्कार शिक्षा देकर लाभ उठाया जाता था। इसी प्रकार विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन तक के सभी संस्कार आधुनिक काल की अनिवार्य शिक्षा प्रणाली का पूर्वरूप कहे जा सकते हैं। नियमित अध्ययन तथा कठोर अनुशासन से प्राचीन हिन्दूओं के उच्च बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप की रक्षा में सहयोग मिला। वैवाहिक विधि–विधान के सम्बन्ध में निश्चित नियमों के निर्धारण के द्वारा विवाह संस्कार अनेक यौन तथा सामाजिक समस्याओं का नियमन करता था। अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि मृतक तथा जीवित के प्रति गृहस्थ के कर्त्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करता था। यह पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य–विज्ञान का एक विस्मयकारी समन्वय था, तथा जीवित सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करता था।

अतः संस्कारों की सम्पन्नता तथा अनुपालन से मुनष्य के जीवन का

सर्वांगीण विकास होता है तथा उसका सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य व्यवस्थित और सुगठित रूप में आगे बढ़ता है। इसीलिए डा0 पी0वी0 काणे ने लिखा है कि 'संस्कारों के द्वारा मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास करके अपना और समाज दोनों का कल्याण करता था।[274]

इस प्रकार संस्कार व्यवहार में मानव जीवन तथा उसके विकास की क्रमबद्ध योजना प्रस्तुत करते हैं और इनका आयोजन पूर्णतः समाजशास्त्रीय चिन्तन पर आधारित है जो इस व्यवस्था को चरितार्थ करता है कि 'सर्वथा अभिनव मानव का निर्माण तो नहीं किया जा सकता, किन्तु मानव का नवनिर्माण अवश्य किया जा सकता है।'

सामाजिक व्यवस्था में विवाह संस्था का स्वरूप–

विवाह मानव–समाज के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना है। यह एक सर्वव्यापी तथा सार्वभौम संस्था है जो सभी समाजों में विद्यमान है।

शब्द कल्पद्रुम में विवाह का अर्थ 'विशिष्ट वहनम्' कहा गया है।[275]

अतः विवाह से आशय एक ऐसी सामाजिक संस्था से है जो स्त्री और पुरूष को कुछ विशेष नियम और विधि के अन्तर्गत यौन सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति प्रदान करती है तथा उनके विभिन्न अधिकारों को मान्यता भी देती है।

प्राचीन भारत में छठी शताब्दी ई0पू0 तक विवाह संस्था का पूरी तरह से विकास हो चुका था क्योंकि तत्कालीन ग्रन्थों में विवाह को धार्मिक संस्कार का स्वरूप प्रदान कर, विधि–विधान सहित विवाह के प्रकारों का उल्लेख किया गया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र से पता चलता है कि विवाह के दो उद्देश्य हैं– धर्मकार्य और पुत्रोत्पत्ति।[276] जबकि मनु ने इसमें यौन इच्छा की पूर्ति को भी शामिल किया है।[277] इस आधार पर डा0 के0एम0 कपाड़िया ने माना है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्य हैं– धर्म, प्रजा और यौन संतुष्टि। हिन्दू विचारक धर्म को विवाह का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं तथा सन्तानोत्पत्ति को दूसरा

महत्वपूर्ण उद्देश्य।[278]

विवाह के महत्व को ध्यान में रखते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में सन्तानहीन व्यक्ति को उसी प्रकार निरर्थक बताया गया है जैसे पंखहीन पक्षी या सामान विहीन व्यापारी।[279] ललितविस्तर में भगवान बुद्ध ने भी निर्लिप्त भाव से गृहस्थ धर्म के पालन की प्रशंसा की है तथा दोषयुक्त होते हुए भी लोक–शिक्षण के लिए विवाह को उत्तम कहा है।[280]

लेकिन इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के विचार भारतीय मान्यताओं एवं मूल्यों से मेल नहीं रखते। राबर्ट ब्रिफाल्ट ने हिन्दू विवाह के लिए यौन सम्बन्ध को ही अधिक महत्व दिया है।[281] जबकि वेस्टर मार्ग के अनुसार, 'विवाह एक या अधिक स्त्रियों के साथ जुड़ने वाला वह सम्बन्ध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है जिसमें दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के अधिकार और कर्तव्य समाविष्ट होते हैं।[282] लेकिन ये परिभाषाएँ हिन्दू विवाह के सही अर्थ को नहीं दर्शाती है। क्योंकि भारतीय विचारक मजुमदार और मदन का कहना है कि 'वस्तुतः हिन्दू विवाह जीवन पर्यंत का धार्मिक बन्धन है, जो अटूट है। विवाह के साथ सामाजिक स्वीकृति होती है जो प्रायः वैधानिक और धार्मिक कृत्य के रूप में होती है तथा जो दो विषमलिंगी मानव को, पारस्परिक यौन सम्बन्ध तथा इससे सम्बन्धित अन्य सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्रदान करती है।[283]

इसमें विवाह को एक सामाजिक मान्यता माना गया है तथा इसे वैधानिक के साथ ही साथ धार्मिक स्वरूप भी दिया गया है। अतः प्राचीन भारतीय विवाह में सामाजिकता, धार्मिकता, यौन सम्बन्ध, आर्थिक सम्बन्ध, सन्तान के प्रति दायित्व, प्रथा–परम्परा के नियमों का पालन तथा नैतिकता को समाहित किया गया है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि विश्व के अन्य देशों की तरह प्राचीन भारत में भी विवाह संस्था के साथ स्वच्छंद संभोग की प्रथा के विद्यमान होने के प्रमाण मिलते है।[284] वैदिक काल में प्रजापति का अपनी पुत्री पर आसक्त होना, यम

का अपनी बहन यमी से मैथुन, पुषन् का अपनी माता से प्रेम याचना तथा ऐतरेय ब्राह्मण में माता एवं बहन के साथ संभोग के प्रमाण उपलब्ध है।[285] परन्तु वी0एम0 आप्टे तथा पाण्डुरंग वामन काणे के अनुसार इन उदाहरणों को पैराणिक कथा माना जा सकता है।[286]

महाभारत में पाण्डु ने उत्तर कुरू की स्त्रियों को स्वैरिणी और स्वेच्छाचारिणी कहा है। कर्णपर्व में वाह्लीक और मद्र की स्त्रियों के अनैतिक आचरण का उल्लेख है।[287] लेकिन स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध का सबसे महत्वपूर्ण संकेत महाभारत में उद्दालक और उनके पुत्र श्वेतकेतु की कथा में मिलता है जिसके अनुसार श्वेतकेतु ने ही स्वैरिता या स्वच्छन्द संभोग को समाप्त करने का कठोर नियम बनाया।[288]

डा0 काणे ने उत्तर कुरू को काल्पनिक देश मानते हुए महाभारत के कथन को प्रामाणिक नहीं माना है।[289] डा0 आर0एस0 शर्मा ने प्राचीन काल में स्वैरिता के पक्ष में अन्य साक्ष्य के रूप में धर्मसूत्रों तथा स्मृतिकारों द्वारा विभिन्न प्रकार के पुत्रों का विधान बनाए जाने को प्रस्तुत किया है।[290] इसलिए सभी आख्यानों को कल्पित नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज में एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब इस प्रकार के अनैतिक सम्बन्ध होते रहे होंगे।[291] लेकिन इन सम्बन्धों को हम समाज द्वारा मान्य सम्बन्ध नहीं कह सकते। सम्भव है कि महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों के इस प्रकार के अनैतिक सम्बन्धों के वर्णन लेखकों की कल्पना के उपज रहे हो क्योंकि वे अपनी कथाओं को अति प्राचीन काल की सिद्ध करना चाहते थे। जबकि विवाह सम्बन्धी नियमों का विकास नहीं हुआ था।[292]

विवाह करने से पहले वर–वधू की आयु तथा उनकी योग्यता का भी ध्यान रखा जाता था। डा0 अल्तेकर ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वैदिक काल में वर और वधू का विवाह यौवन प्राप्ति के बाद युवा होने पर ही किया जाता था।[293] लेकिन छठी शताब्दी ई0पू0 से तीसरी शताब्दी ई0पू0 के बीच इसमें लचीलापन आने लगा और स्मृतियों ने तो बाल विवाह को

मान्यता देकर इस अनैतिक प्रथा को पूरी तरह से संरक्षण दिया।

गृह्यसूत्रों के काल में विवाह के बाद पुत्र प्राप्ति के लिए 'चतुर्थी–कर्म' की क्रिया की जाती थी।[294] जिससे लगता है कि इस समय भी प्रौढ़ विवाह की प्रथा का प्रचलन समाज में था।

बौद्ध साहित्य से भी प्रौढ़ विवाह होने के साक्ष्य मिलते है।[295] महाकाव्य काल में स्वयंवर प्रथा से संकेत मिलता है कि इस समय विवाह पूर्ण यौवन प्राप्ति पर ही होता रहा होगा।[296] लेकिन इसके बाद विवाह की उम्र में कमी आने लगती है।

धर्मसूत्रों में प्रायः यह कहा गया है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन अथवा वस्त्र पहनने (लज्जा करने) की अवस्था के पूर्व ही कर देना चाहिए।

'त्रिन्कुमारी ऋतुनतीत्य स्वय युज्येतानिन्दितेन उत्सृजय पित्यानलंकारान्।[297] रजस्वला कन्या का विवाह न करने पर इन धर्मशास्त्रकारों ने पिता को भ्रूणहत्या का दोषी ठहराया है। कौटिल्य ने भी बारह वर्ष की कन्या को व्यवहार प्राप्त बताया है।[298]

स्मृतियों के काल में स्त्रियों की शिक्षा का स्तर ज्यादा नीचे गिरने लगा तथा अब उपनयन की उम्र 8 वर्ष को ही विवाह की उम्र मान लिया गया। मनु के अनुसार 'तीस वर्ष की अवस्था वाला पति बारह वर्ष की अवस्था वाली सुन्दरी कन्या से विवाह करे अथवा शीघ्र विवाह करने वाला पति चौबीस वर्ष की आयु में आठ वर्ष की कन्या से विवाह करें––

'त्रिंशद्वर्षेद्विहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।[299]
त्यष्टवर्षेऽष्टवर्षं वा धर्मे सीदति सत्वरः।।'

इस तरह उत्तर भारत के समाज में बाल विवाह की कुप्रथा का प्रचलन हो गया। इसके प्रमुख कारणों में आर्यों का विलासपूर्ण जीवन, लड़कियों की उपनयन संस्कार की समाप्ति तथा ई0पू0 तृतीय व चतुर्थ शताब्दी से उत्तरी भारत पर विदेशी आक्रमणों का प्रारम्भ एवं जैन, बौद्ध जैसे निवृत्तिमार्गी सम्प्रदायों में लड़कियों द्वारा विवाह से पूर्व संघों में प्रवेश को माना जाता है।

प्राचीन उत्तर भारतीय के समाज में विवाह से पूर्व वर एवं वधू के गुण–दोष पर बहुत ही सावधनी से विचार किया जाता था, इसीलिए श्री हरिदत्त वेदालंकार ने वर–वधू के चयन की तुलना बाधा दौड़ (Hurdle Race) से की है।[300]

गृह्यसूत्रों के अनुसार किसी पुरूष को अपनी पुत्री का विवाह बुद्धिमान, अच्छे परिवार के सच्चरित्र, विद्वान, स्वस्थ्य और गुणवान युवक के साथ करना चाहिए।[301] बौधायन के अनुसार विवाह के समय युवक ब्रह्मचारी होना चाहिए।[302] मनु ने लिखा है कि अच्छा परिवार होना सबसे आवश्यक विशेषता है जो वर में होनी चाहिए।[303] स्मृतिकारों ने इसके साथ ही पागल, पापी, कोढ़ी, नपुंसक, अंधे, बहरे, मिरगी आदि रोग से पीड़ित तथा सगोत्र और सपिण्ड युवक से विवाह का निषेध किया है।[304] मनु तथा याज्ञवल्क्य नपुंसक से विवाह पर सहमत हैं, क्योंकि नियोग से पुत्र प्राप्त किया जा सकता है।[305]

विवाह के लिए सहमति बनने से पूर्व वर से अधिक वधू की योग्यता का परीक्षण होता था। वधू के चुनाव में भी अच्छे परिवार की और वंशानुगत रोगों से मुक्त होने के नियम दिए गए हैं।[306] मनु0 (3.10) के अनुसार 'पुरूष को ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए, जो शारीरिक दोषों से मुक्त हो, जिसका नाम सौम्य हो, जिसकी गति हंस या हाथी के समान हो, जिसके शरीर तथा सिर पर केश उचित मात्रा में हो, जिसके दॉत छोटे तथा अवयव मृदु और कोमल हों–

'अव्यगांगी सौम्यनाम्नी हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशवदनां मृद्वंगीमुद्वहेत् स्त्रियम्।।'

भद्दे तथा अशुभ नाम वाली तथा जिस लड़की के भाई न हो उसके साथ भी विवाह करने का निषेध था।

सभी धर्मशास्त्रकारों ने कन्या की आयु वर की आयु से कम होना स्वीकार किया है। वात्स्यायन ने कन्या को वर से कम से कम तीन वर्ष छोटी रहना सही माना है।[307]

विवाह के प्रकार–

मनु से पता चलता है कि उस समय आठ प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित थे– ब्रह्म, दैव,आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच–

'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्थासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।। (मनु0, 3.21)

वैसे गृह्यसूत्रों में केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र में ही विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख है।[308] धर्मसूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने इन आठ प्रकार के विवाहों का विस्तृत वर्णन किया है। लुडविग स्टर्नबैक ने कानूनी दृष्टि से ग्यारह प्रकार के हिन्दू विवाहों का उल्लेख किया है।[309] लेकिन यह शास्त्रीय आधार पर मान्यता प्राप्त नहीं है।

स्मृतिकारों ने विवाह के इन आठ प्रकारों को दो भागों में विभाजित कर दिया है।[310]

1. प्रशस्त (श्रेष्ठ)– ब्रह्म, दैव, आर्ष, तथा प्राजापत्य।
2. अप्रशस्त्र (निम्न)– आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच।

डा0 आर0एम0 दास ने विभाजन की इस प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है कि अन्तिम चार प्रकार के विवाह को घृणित मानते हुए भी उन्हें सामाजिक मान्यता इसलिए दी गई है कि उन्मत्तता की स्थिति में गलत करने वाले लोगों के व्यवहार से भी त्राण मिल जाय जिससे वह स्त्री कलंकिनी होकर समाज की निन्दिता न बने तथा वह व्यक्ति दुराचारी एवं स्वभाव जनित अपराधी न हो जाये। साथ ही वह समाज में पीछे चलकर एक अच्छे नागरिक के रूप में अपना जीवन–यापन कर सके।[311] मनु के अनुसार श्रेष्ठ विवाहों द्वारा अच्छी सन्तान तथा निन्दित विवाहों द्वारा क्रूर, झूठे आदि बुरी सन्तान होती है।[312] विवाह के प्रकारों के प्रश्न पर विचार करते हुए हरिदत्त वेदालंकार ने लिखा है कि हिन्दू समाज में व्याप्त जातीय, साम्प्रदायिक तथा सांस्कृतिक वैविध्यता के बीच वैवाहिक वैविध्यता अत्यन्त स्वाभाविक है।[313]

डा0 राजबली पाण्डेय की मान्यता है कि जो प्रकार जितना ही अधिक अप्रशस्त था, वह उतना ही अधिक प्राचीन था, यद्यपि उनमें कुछ साथ–साथ प्रचलित थे। इसलिए उन्होंने इनकी व्याख्या विपरीत क्रम से किया है।

1. **ब्राह्म विवाह–** हिन्दू धर्मशास्त्र में यह विवाह– प्रकार उत्तम कोटि का माना गया है। मनु स्मृति (4.27) के अनुसार –

'आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।।'

लड़की को अच्छे वस्त्रों से भली प्रकार अलंकृत कर जब उसका पिता शीलवान और वेदों में निपुण वर को बुलाकर आदर के साथ विधिपूर्वक उसे अपनी पुत्री देता है तो वह ब्राह्म विवाह कहा जाता है। यह विवाह पूर्ण विधि–विधानतः होता था। इसमें वर को यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि वह लड़की के साथ पूर्ण समता के साथ व्यवहार करेगा।[315]

स्मृतियॉ इसे विवाह का सबसे अधिक सम्मानित प्रकार मानती हैं, क्योंकि वह शारीरिक शक्ति के प्रयोग, कामुकता, किसी प्रकार की शर्त अथवा धन–लिप्सा से मुक्त था। इसमें सामाजिक शालीनता का पूर्णरूप से पालन किया जाता तथा धार्मिक विचारों पर ध्यान रखा जाता था।

2. **दैव विवाह–** विवाह के इस प्रकार में कन्या का विवाह ऐसे वर के साथ होता था, जो ऋत्विज विधिपूर्वक यज्ञ को सम्पन्न करा लेता था–

'ऋत्विजे विवृते कर्मणि दद्यादलंकृत्य स दैवः। (मनु0, 3.53)

'यज्ञे तु वितते सम्यगृत्वजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते।। (मनु0, 3.28)

इस प्रकार ऋत्विज को इस विवाह में कन्या अलंकृत करके दान में दी जाती थी। इस तरह के यज्ञों में पुराहित अपने संरक्षक राजाओं से सुन्दर कन्याओं को प्राप्त करते थे। डा0 के0एन0 चटर्जी के अनुसार दैव विवाह में ऋषि या पुरोहित को कन्या उसके धार्मिक कार्यों को करने के उपलक्ष्य में दी जाती थी।[316]

डा0 राजबली पाण्डेय के अनुसार वैदिक यज्ञों की परम्परा की समाप्ति के साथ–साथ दैव विवाह की प्रक्रिया का भी ह्रास हो गया।[317]

3. **आर्ष विवाह–** जब वर कन्या के पिता को एक जोड़ा बैल अथवा एक बैल और गाय को देकर विवाह करता है तो वह आर्ष विवाह कहलाता है–

'एकं गोमिथुनं द्वे वार वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।। (मनु0, 3.29)

इस विवाह में गाय–बैल का दिया जाना सम्भवतः धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए था। डा0 राजबली पाण्डेय के अनुसार यह कन्या मूल्य नहीं था, किन्तु धन–प्राप्ति का यत्किंचित भाग अवश्य था। यद्यपि कन्या का पिता उसका सौदा नहीं करना चाहता था।[318] बाद में शुल्क का विकृत रूप देने के कारण ही मनुस्मृति में इसकी निन्दा की गई है।[319]

डा0 पी0एन0 प्रभु के अनुसार सम्भवतः गृहस्थाश्रम की मान्यताओं को पूरा करने के लिए प्रतीक स्वरूप गाय और बैल का विधान है।[320] इसलिए इसे शुल्क नहीं माना जा सकता।

4. **प्राजापत्य विवाह–**

इस विवाह में अपनी कन्या का पाणिग्रहण पिता योग्य वर के साथ इस उद्देश्य से कर देता था कि ये दोनों अपने नागरिक व धार्मिक कर्त्तव्यों का साथ–साथ पालन करे।[321] मनुस्मृति के अनुसार

मनुस्मृति के अनुसार–

'सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।।' (मनु0, 3.30)

जब कन्या का पिता वर को कन्या देकर उसका यथोचित सम्मान कर यह कहे कि 'तुम दोनों साथ–साथ धर्म का आजीवन आचरण करो' तो वह विवाह प्राजापत्य विवाह कहलाता था।

ब्राह्म विवाह तथा प्राजापत्य विवाह में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है इसीलिए डा0 अल्तेकर की मान्यता है कि प्रारम्भ में विवाह सात प्रकार ही थे

लेकिन समसंख्या बनाने के लिए इन दोनों में भेद किया गया।[322]

5. आसुर विवाह–

इस विवाह में वर कन्या को और उसके सम्बन्धियों को पर्याप्त धनराशि देकर (शुल्क देकर) उससे विवाह करता था। मनुस्मृति के अनुसार–

'ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।।' (मनु0 3.31)

महाभारत में भी कहा गया है कि कन्या को खरीदकर अथवा उसके सम्बन्धियों को धन का लालच देकर जो विवाह होता है उसे असुरों का धर्म कहा जाता है।[323]

कुछ विद्वानों के अनुसार असीरिया सभ्यता में प्रचलित होने के कारण ही इसे 'असुर विवाह' कहा गया।[324] यद्यपि पं0 हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार यह नामकरण असुर जाति के ऊपर किया गया है जो आर्यों की विरोधी जाति थी।

महाभारत में[325] पाण्डु का दूसरा विवाह, कान्यकुब्ज नरेश गाधि की पुत्री सत्यवती का विवाह तथा बौद्ध साहित्य में, जातकों में[326] उल्लिखित उदयभद्दा का विवाह, एक ब्राह्मण के विवाह की कथा, इसिदासी का विवाह प्रमुख है।

लेकिन प्राचीन धर्मशास्त्रकारों एवं स्मृतिकारों ने इस प्रकार क्रय करके कन्या से विवाह को निन्दनीय कहा है। मनु के अनुसार, 'कन्या के विद्वान पिता को अणुमात्र शुल्क भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। लोभ के कारण शुल्क स्वीकार करने वाला पुरूष सन्तान का बेचने वाला है।[327] यही विचार आपस्तम्ब स्मृति में भी दिया गया है।[328] बौधायन धर्मसूत्र[329] के अनुसार, 'धन द्वारा क्रीत नारी पत्नी का स्थान प्राप्त नहीं कर सकती और न उसे दैव तथा पित्र्य क्रियाओं में भाग लेने का अधिकार ही मिल सकता है। वह तो एक दासी के समान है। बौधायन ऐसे पुत्री विक्रयी को नरक में जाने वाला महापातकी कहते है। जो अपने सात पीढ़ियों के पुण्यों का नाश करता है।

मेगस्थनीज को उद्धृत करते हुए स्ट्रैबो ने लिखा है कि उत्तर–पश्चिम भारत में यह प्रथा प्रचलित थी।[330] डा0 दास के अनुसार कन्या की इच्छा का

ध्यान न रखा जाना इसके विरोध का कारण था।[331] जबकि हरिदत्त वेदालांकार के अनुसार सम्भवतः इसके विरोध का दूसरा कारण यह रहा होगा कि कन्या शुल्क के निर्धारण से निर्धन लोगों को बड़ी असुविधा रही होगी।[332] डा0 अल्तेकर के अनुसार बाल–विवाह के प्रचलन के कारण कन्या शुल्क की बुराई बढ़ गई होगी।[333]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरी भारत में विवाह का यह प्रकार दोषयुक्त होने के कारण बहिष्कार का कारण बना।

6. गान्धर्व विवाह–

धर्मसूत्रों के अनुसार जब युवक–युवती परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता पिता की उपेक्षा कर विवाह कर ले तब वह प्रथा गान्धर्व विवाह कही गयी।[334]

आश्वलायन के अनुसार, 'विवाह का वह प्रकार, जिसमें पुरूष और स्त्री परस्पर निश्चय कर, एक दूसरे के साथ गमन करते हैं, गान्धर्व कहलाता है।'

गौतम के अनुसार इसमें कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है।

मनु की परिभाषा के अनुसार–

'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।। (मनु0, 3, 32)

हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार वैदिक काल से यह विवाह प्रचलित था।[335]

गान्धर्व विवाह का सबसे अधिक प्रामाणिक साक्ष्य महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला की कथा में मिलता है। महाभारत में दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा था कि राक्षस और गान्धर्व विवाह क्षत्रियों के लिए धर्म विवाह है।[336]

महात्मा बुद्ध के समकालीन उदयन और वासवदत्ता की प्रेम कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक जातक में उल्लेख आया है कि वाराणसी के आचार्य के एक शिष्य ने स्थानीय युवती से प्रेम हो जाने पर उससे परिणय कर लिया।[337] पुरूरवा और उर्वशी का प्रणय विख्यात है।[338] शतरूपा तथा मनु का प्रेम भी इसी

कोटि में आता है।

वात्स्यायन इस प्रकार के विवाह के प्रबल समर्थक हैं, उनकी दृष्टि में भी अनुरागात्मकता के कारण इसका बहुत महत्व है।[339] बौधायन तथा नारद ने भी इसे हेय नहीं माना है। मनु भी इसकी वैधता तथा अवैधता पर मौन है।[340]

इस विवाह में संस्कार को बहुत आवश्यक नहीं माना जाता था। इसीलिए महाभारत में कण्व ने इसे '–निर्मन्त्र विधि वाला' कहा है।[341] लेकिन कामसूत्र में कहा गया है कि पिता के घर से कन्या को लाने के बाद अग्नि को साक्षी मानकर विवाह संस्कार कर देना चाहिए।

डा0 राजबली पाण्डेय के अनुसार हिमालय की तराई में रहने वाले गान्धर्वों के जन में विशेष प्रचलन के कारण इसे यह नाम मिला। उनके अनुसार यह क्षत्रिय वर्ग में विशेष रूप से प्रचलित था।[342]

7. राक्षस विवाह–

इस प्रकार के विवाह में वर पक्ष के व्यक्ति कन्या के सम्बन्धियों को मारकर और उसके घरों को नष्ट–भ्रष्ट करके रोती और चीखती कन्या को बलपूर्वक अपहरण करके ले जाते थे–

'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रूदती गृहात्।
प्रसह्य कन्यां हरतो राक्षसो विधिरूच्यते।।' (मनु0 स्मृ0, 3.33)

विष्णु तथा याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि राक्षस विवाह का उद्भव युद्ध से हुआ।[343]

महाभारत में अर्जुन–सुभद्रा विवाह के प्रसंग में श्री कृष्ण ने इसे 'क्षात्र–धर्म' कहा है।[344] इसी प्रकार का विवाह श्रीकृष्ण और रूक्मिणी का भी था। महाभारत में भीष्म भी बलपूर्वक कन्या का हरण क्षत्रियों के लिए प्रशस्त मानते है।[345] और उन्होंने भी कुरू राजकुमारों के लिए कन्याओं का हरण किया था। राजपूत काल में भी पृथ्वीराज तथा संयुक्ता का विवाह भी इसी परम्परा का प्रतीक है।

लेकिन बाद में इस प्रकार के विवाह को निकृष्ट माना जाने लगा तथा

महाभारत में ही इसे पाप कहकर प्रायश्चित करने का उल्लेख है।[346] सम्भवतः इस तरह का कार्य राक्षसों का समझकर इसे यह नाम दिया गया है।

8. पैशाच विवाह–

मनु ने इसे सर्वाधिक अप्रशस्त प्रकार कहा है।[347] गौतम तथा विष्णु के अनुसार 'अचेतन, सुप्त या मदमत्त कन्या के साथ मैथुन करना' ही पैशाच विवाह है। मनु के अनुसार –

'सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।। (मनु0स्मृ0, 3, 24)

याज्ञवल्क्य तथा देवल ने भी किसी कन्या के साथ छलपूर्वक किए गए विवाह को पैशाच कहा है। यह विवाह का सर्वाधिक असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण प्रकार था।

आश्वलायन के अनुसार चोरी से स्त्री का अपहण करना पैशाच का लक्षण है जबकि शक्ति से अपहरण राक्षस का लक्षण।

डा0 राजबली पाण्डेय के अनुसार पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में पचलन के कारण इसका यह नाम दिया गया।[348]

इस प्रकार इसे वैधानिक मान्यता न मिलते हुए भी हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रकारों तथा स्मृतिकारों ने माता और सन्तान को समाज में उचित स्थान दलाने की इच्छा से ही सम्भवतः इसे विवाह का एक प्रकार मान लिया। और मनु जैसे विद्वानों को भी इसकी मान्यता न चाहते हुए भी देनी पड़ी।[349]

इस प्रकार उपर्युक्त विवाह के प्रकार के अध्ययन से पता चलता है कि उत्तरी भारत में आठों प्रकार के विवाह का प्रचलन सभी वर्णों में था। इनमें सबसे अच्छा विवाह ब्राह्म विवाह दिखायी देता है। असुर विवाह में कन्या का क्रय होता था जबकि राक्षस विवाह क्षत्रियों के लिए धर्म कहा गया है। पैशाच विवाह सबसे निकृष्ट प्रकार था जिसकी धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में घोर निन्दा की गई है।

उपर वर्णित विवाह के आठ प्रकार के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रकार के विवाहों का प्रचलन समाज में था तथा कुछ विधि निषेध भी विवाहों के लिए थे जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वर्णन सूत्रकारों, स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है, इनका वर्णन इस प्रकार है–

स्वयंवर–

प्राचीन हिन्दू समाज में स्वयंवर विवाह भी होता था। विशेषतः शासक वर्ग में इसका प्रचलन था। इसमें वधू स्वयं अपने वर का चुनाव करती थी। वैदिक काल में भी इस प्रथा के प्रचलन का संकेत मिलता है।[350] रामायण में सीता का विवाह तथा महाभारत में द्रौपदी , कुन्ती तथा दमयन्ती का विवाह भी इसी विधि से हुआ था। बौद्ध ग्रन्थों से भी स्वयंवर–विवाह पर प्रकाश पड़ता है। धम्मपद टीका[351] तथा कुणाल जातक[352] में स्वयंवर विवाह की कथाओं का वर्णन है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त न होने के कारण यह विवाह उत्तर भारतीय समाज में लोकप्रिय नहीं हो पाया तथा राजकुलों में ही यह सिमटकर रह गया और धीरे–धीरे इसका पतन हो गया।

अन्तर्विवाह; सवर्ण या सजातीय विवाह–

अपने ही वर्ण, जाति, समूह, प्रजाति और धर्म में विवाह करना अन्तर्विवाह कहा जाता है। वैदिक युग में विवाह के लिए सम्भवतः वर्णपरक प्रतिबन्ध समाज में नहीं था, यद्यपि उस युग में असवर्ण विवाहों के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

वस्तुतः सवर्ण विवाह के प्रति अधिक बल सूत्रों और स्मृतियों के युग में दिया जाने लगा, जब वर्णों के बीच दूरी बढ़ने लगी। गौतम के अनुसार असवर्ण विवाह निम्न था।[353] मनु, याज्ञवल्क्य और नारद जैसे लेखकों ने सवर्ण स्त्री से विवाह करने पर श्रेष्ठता की बात कही है।[354] मत्स्य पुराण से भी पता चलता है कि ब्राह्मण कन्या देवयानी ने राजकुलोत्पन्न ययाति से प्रणय–विवाह के लिए प्रार्थना की थी, जिसे उसने सवर्ण न होने के कारण अस्वीकार कर दिया था।[355] जातकों से भी इस पर प्रकाश पड़ता है।

अतः सवर्ण अथवा सजातीय विवाह समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित माना जाने लगा तथा अपने वर्ण और जाति के बाहर विवाह करना घोर अप्रतिष्ठा और हीनता की बात कही गई।

अन्तर्जातीय विवाह–

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही अन्तर्वर्णीय या अन्तर्जातीय विवाह होते रहे हैं। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का प्रचलन इसी के अन्तर्गत था।

अनुलोम विवाह–

विवाह के सम्बन्ध में अनुलोम का अर्थ है– पुरूष वर्ण का अपने नीचे के वर्ण की स्त्री से विवाह।[356] वैसे तो इस प्रकार के विवाह को प्रारम्भ से ही अच्छा नहीं माना जाता था, लेकिन वैदिक युग में वर्ण का कठोर बन्धन नहीं होने के कारण, इसके प्रचलन के पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं।

वैदिक युग के बाद उत्तरी भारत के समाजशास्त्रियों ने ऐसे विवाहों को निन्दनीय कहा तथा समाज में इनका मान कम हो गया। सवर्णा स्त्री की उपस्थिति में असवर्णा स्त्री को धार्मिक कार्य सम्पन्न करने से वंचित कर दिया गया।[357] समाज में सवर्णा स्त्री प्रतिष्ठित और अभिशंसित मानी गई।[358] शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण अपने नीचे के तीन वर्ण, क्षत्रिय दो तथा वैश्य मात्र एक अतिरिक्त वर्ण से विवाह कर सकता था।

अग्निमित्र तथा मालविका का विवाह,[359] रूद्रसेन II तथा प्रभावती गुप्ता का विवाह, रविकीर्ति नामक ब्राह्मण का वैश्य कन्या भानुगुप्ता से विवाह[360] वाकाटक देवसेन का मन्त्री सोमनाथ ब्राह्मण ने क्षत्रिय कन्या से भी विवाह किया[361] आदि उदाहरण प्रमुख है।

इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान को सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान की तुलना में अत्यल्प अधिकार प्राप्त था। तथा उसे धार्मिक कार्यों, सामाजिक गतिविधियों तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में सीमित अधिकार ही प्राप्त था।[362]

प्रतिलोम विवाह–

निम्न वर्ण के पुरूष का उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह प्रतिलोम कहलाता था। प्रतिलोम विवाह को हिन्दू समाज में अत्यन्त हीन माना जाता था, इसलिए समाज में इसका प्रचलन नाममात्र के लिए ही था। डा0 राजबली पाण्डेय ने विभिन्न उदाहरणों द्वारा दिखाया है कि वैदिक कालीन समाज में प्रतिलोम विवाह व्यवहृत था।[363] इसका कारण वर्णबन्धन में जटिलता का अभी तक विकास न हो पाना था। लेकिन सभी धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों और पुराणों में इस प्रकार के विवाह की घोर निन्दा की गई है और इसे समाज के लिए कलंक बताया गया है। अतः ई0पू0 600 के बाद उत्तरी भारत के समाज में कुछ उदाहरणों को छोड़कर प्रतिलोम विवाह का प्रचलन नहीं हो पाया।

अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा0 घुर्ये ने तीन कारण बताएं हैं[364]

- रक्त की परिपक्वता को बनाए रखने की इच्छा
- वैदिक संस्कृति को अक्षुण्य बनाये रखने का प्रयास तथा
- ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्थिर रखने की अभिलाषा

डॉ0 घुर्ये जैसे समाजशास्त्रियों ने अन्तर्जातीय विवाह के औचित्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि– 'अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा एक जाति का दूसरी जाति में रक्त का सम्मिश्रण होना, सम्बन्धों को दृढ़ बनाने तथा राष्ट्रीयता का पोषण करने में सबसे प्रभावशाली साधन सिद्ध हुआ है।[365]

बहिर्विवाह–

प्राचीन भारत में वर–वधू का विवाह निश्चित करते समय उनके सामाजिक वर्ग तथा वंश का विशेष ध्यान रखा जाता रहा है। इनमें गोत्र, प्रवर, पिण्ड प्रमुख हैं। धर्मशास्त्रकारों ने एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड में परस्पर विवाह करना अप्रशस्त माना है।[366] यद्यपि अपनी जाति के बाहर जाकर भी यह विवाह नहीं किया जा सकता था। मनु के अनुसार–

'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।। (मनु0, 3, 5)
इन निषिद्ध वहिर्विवाहों का वर्णन इस प्रकार है–

सगोत्र–वहिर्विवाह–

'गोत्र' का अर्थ साधारणतः पूर्व पुरूष को व्यक्त करता है।[367] इसके अन्य अर्थ भी लिए गए है। पाणिनि ने 'गोत्र' शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ में की है।[368]

वस्तुतः प्रत्येक परिवार के लोग अपनी पैतृक सत्ता निश्चित करते हैं, इसके लिए वे किसी न किसी ऋषि को अपना आदि पुरूष बताते हैं और उसी से अपने कुल अथवा वंश का विकास बताते हैं। ब्राह्मणों का अपना वास्तविक गोत्र होता है तथा क्षत्रियों और वैश्यों का गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्र पर आधरित होता है। शूद्रों का गोत्र नहीं होता।[369]

'गोत्र' का विकास उत्तरवैदिक काल तक पूर्ण हो चुका था और उसके बाद से सगोत्र विवाह को हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने वर्जित कर दिया था। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, कश्यप आदि जैसे ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गई है।[370]

अतः उत्तर भारत के जनमानस में ई0पू0 600 के बाद गोत्र में विवाह का प्रतिबन्ध पूरी तरह से मान्य हो गया था और आज भी इस तरह का विवाह नहीं होता है।

प्रवर वहिर्विवाह–

प्राचीन समय में उत्तर भारत में विवाह में प्रवर का भी ध्यान रखा जाता रहा है। डा0 कपाड़िया के अनुसार 'प्रवर कुछ ऐसे संस्कारों और ज्ञान से सम्बन्धित सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है जिनसे व्यक्ति आबद्ध होता है।[371] पुरोहित याज्ञिक कार्य करते समय अपने सर्वश्रेष्ठ ऋषि पूर्वज के नाम का स्मरण करते। ये ऋषि व्यक्ति के पूर्वज के रूप में उसके आध्यात्मिक, सांस्कारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं से धीरे–धीरे जुड़ गए जो आगे चलकर प्रवर के जनक के

रूप में विकसित हुए। इस आधार पर उत्तरी भारत के कुछ धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी कि कोई भी पुरूष उस स्त्री से विवाह नहीं करेगा जो उसी के प्रवर से सम्बंधित हो। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अनुसार समान प्रवर में विवाह करना गुरू से पाप करना माना गया है।[372]

इस प्रकार प्रवर का सम्बन्ध रक्त से न होकर व्यक्ति की पारम्परिक, धार्मिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से हुआ। साधारणतः प्रवर का विकास ब्राह्मण समाज में ही हो पाया, क्योंकि वे ही याज्ञिक एवं शैक्षिक कार्यो से जुड़े थे।

सपिण्ड बहिर्विवाह–

प्राचीन उत्तर भारत में सपिण्ड विवाह भी वर्जित था। सपिण्ड से तात्पर्य समान रक्तकणों से अथवा एक ही पिण्ड से या एक से शरीर से है।[373] लेकिन दायभाग के अनुसार जितने लोग श्राद्ध के समय पितरों को चावल के एक जैसे गोले (पिण्ड) अर्पित करते हैं वे सब सपिण्ड है। यहॉ पर सपिण्ड से तात्पर्य रक्त सम्बन्ध द्वारा अपने सम्बन्धियों से लगाया जाता है।

इस नियम से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई–बहन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया। धर्मसूत्रों में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निषेध किया गया है।[374] लगभग सभी धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तथा माता केइ पक्ष में पॉच पीढ़ी तक विवाह वर्जित था। गौतम के अनुसार सपिण्डता के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति जाति–भ्रष्ट एवं पतित हो जाता है।

विवाह–विच्छेद–

यद्यपि कुछ विशेष परिस्थितियों में उत्तर भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने पति या पत्नी के परित्याग का समर्थन अवश्य किया है। वैसे तो मनु ने अन्तिम समय तक (आमरण) पति–पत्नी के सम्बन्ध को प्रत्येक गृहस्थ का धर्म कहा है।[375] लेकिन उसने कई दशाओं में पत्नी का परित्याग करने की अनुमति दी है, जैसे कि वह पति से घृणा करती हो तो पति एक वर्ष बाद ऐसी पत्नी का परित्याग कर सकता है। यदि पत्नी पुत्र को जन्म न दे तो आठ वर्ष बाद, यदि उसकी सन्तान जीवित न रहे तो दस वर्ष बाद और यदि वह पुत्रियों को ही जन्म दे तो

ग्यारह वर्ष बाद पति ऐसी पत्नी का परित्याग कर सकता है। लेकिन पत्नी पति का त्याग नहीं कर सकती।

कौटिल्य ने पति–पत्नी दोनों की सहमति से विवाह विच्छेद की अनुमति दी है।[376] लेकिन वह भी धर्म्य विवाहों में इसकी अनुमति नहीं देते। इसका कारण यह है कि धर्मशास्त्रकार तो विवाह को पवित्र संस्कार समझते थे जिसमें विवाह–विच्छेद सम्भव ही नहीं था। लेकिन कौटिल्य अधर्म्य विवाह को संविदा समझते हैं, इसीलिए उसमें इसकी अनुमति दी है। सामाजिक दृष्टि से विवाह–विच्छेद के कानून की आवश्यकता भी है क्योंकि पारिवारिक कलह, रोग तथा अन्य मानसिक दबावों में व्यक्ति या परिवार प्रगति नहीं कर सकता और न ही योग्य एवं बौद्धिक दृष्टि से उन्नत सन्तान का विकास सम्भव है। परन्तु इसे अन्तिम उपचार माना जाना चाहिए और परिवार में सामंजस्य बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए।

वास्तव में विवाह परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, घर बसाता है, अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति एवं बालकों का पालन–पोषण करता है और उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में सहयोग देता है। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक संस्थाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थाश्रम का प्रवेश–द्वार है और गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। हिन्दू विवाह यौन–सम्बन्धों को प्राथमिकता न देकर धार्मिक कार्यों को विशेष महत्व प्रदान करता है। यह व्यक्ति को एक कर्म प्रधान प्राणी बनाने में योगदान देता है। हिन्दू विवाह एक संस्कार के रूप में जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। भारतीय विचारधारा में पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी माना गया है, अतः जब तक पुरूष पत्नी की प्राप्ति नहीं करता एवं सन्तान उत्पन्न नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। विवाह के द्वारा सन्तान के माध्यम से व्यक्ति अपने को अमर बनाता है। यही बात ब्रह्मपुराण में कही गई है– 'देवता अमृत द्वारा अमर हुए और मनुष्य पुत्र प्राप्ति द्वारा।[377] पुत्र के महत्व को निरूक्त में दिखाया गया है– 'पुत्र के रूप में पिता

का पुनर्जन्म होता है क्योंकि पिता के अंग–अंग और हृदय से प्राप्त अंशों से पुत्र की उत्पत्ति होती है।[378]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज की सत्ता एवं संरक्षण विवाह और परिवार पर आधारित है। यही कारण है कि विवाह का हिन्दू समाज में केन्द्रीय संस्था के रूप में महत्व पाया जाता है। प्राचीन हिन्दू विवाह ने जहॉ एक ओर व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, त्यागमय जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योगदान किया है, वही दूसरी ओर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

सामाजिक संघटकों के अन्तर्सम्बन्ध एवं सामाजिक प्रभाव–

प्राचीन उत्तरी भारत का सामाजिक जीवन विभिन्न संघटकों के पुष्पपुंज के समान है। समाज की पहली इकाई परिवार थी और उसी परिवार से ही सभी सामाजिक गतिविधियॉ संचालित होती थी। सामाजिक जीवन एवं सामाजिक व्यवस्था को सफल बनाने के लिए ही परिवार के सदस्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को निर्धारित किया गया तथा उन्हें हर सम्भव पालनार्थ बनाने का प्रयास किया गया। प्राचीन उत्तर भारतीय परिवार में शिक्षा का विशेष महत्व था इसी शिक्षा के माध्यम से ही समाज ने अपनी उच्च परम्पराओं एवं मूल्यों को आज तक सुरक्षित रखा। उस समय शिक्षा का इतना महत्व था कि उसे एक संस्कार का रूप दिया गया तथा नियमों के पालन एवं अनुशासन पर विशेष बल दिया गया है। शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति को समाज का एक अच्छा, नैतिक आचरण से युक्त तथा योग्य नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता रहा। शिक्षा पद्धति उन जीवन मूल्यों और आदर्शों की ओर बढ़ने में सहायक होती है जिसे कोई समाज बहुत मूल्यवान समझता है।

प्राचीन भारत में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का उदय, संगठन और उत्थान सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ हुआ। इनका सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों से रहा है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसकी समस्याओं के हल करने के लिए ही उनकी स्थापना हुई थी। इनका संगठन स्वाभाविक रूप में, व्यवस्थित तथा योजनाबद्ध रूप में किया गया था। सामान्य आदर्श और उद्देश्य होने के फलस्वरूप ये संस्थाऍ एक दूसरे से

सम्बन्धित रही है। इनका प्रयोजन उच्च आदर्शों की प्राप्ति था, जिसमें कुछ सीमा तक सफलता भी मिली।

प्राचीन भारत में राजनीतिक इतिहास को उतना महत्व नहीं दिया गया, जितना कि सामाजिक–आर्थिक एवं धार्मिक इतिहास को दिया गया क्योंकि इन्हें ही समाज व्यवस्था की धुरी माना गया, जबकि राजा, राज्य एवं राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन समय एवं परिस्थिति के अनुसार होता रहा। इतिहास की आधुनिक संकल्पना में भी राजनीतिक घटनाओं का इतना महत्व नहीं है जितना कि उन संस्थाओं का जिनके कारण किसी देश की संस्कृति अपने उन मौलिक सिद्धान्तों को अक्षुण्ण रखती है जो उसे बड़ी से बड़ी विघ्न–बाधाओं का सामना करके आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

समाज में वर्ण और आश्रम व्यवस्था भारतीय सामाजिक ढाँचे का मूल आधार थी। चारों पुरूषार्थों ने मनुष्य में प्रकृति और निवृत्ति का सन्तुलन बनाए रखा। अतः वर्ण एवं जाति आश्रम तथा संस्कारों की व्यवस्था मनुष्य एवं समाज दोनों पर निर्भर थी, क्योंकि इनके द्वारा ही मनुष्य चार पुरूषार्थों को पाने का प्रयत्न करता था। संस्कारों ने उसे जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता दी। समाज में दास प्रथा और अस्पृश्यता, स्त्रियों की स्थिति और शूद्रों की स्थिति से भी किसी समाज के सांस्कृतिक स्तर की पूरी जानकारी मिलती है। विवाह के द्वारा वर–वधू को परिवार तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने की प्रेरणा दी जाती थी।

समाज के वृहत्तम स्वरूप को, उसकी विभिन्न मान्यताओं को दृष्टि में रखकर अनेक वर्णों तथा आश्रमों में प्रवेश करने और उनको स्थायित्व प्रदान करने वाले विधि तथा निषेध के नियम जिन ग्रन्थों में वर्णित है, उन्हें स्मृतियॉ कहा गया है। ये नियम जिनको 'संस्कार' कहा जाता है, मनुष्य के जन्म धारण करने से लेकर मृत्युपर्यंत तक है। इन संस्कारों का साधारण मतान्तर या प्रकारान्तर से, समस्त भारत के जाति–धर्मों के लोग पालन करते हैं। संस्कार मनुष्य मात्र को संयम तथा सत्यवृत्ति की ओर प्रवृत्त करते है। वर्णाश्रम धर्म शरीर तथा जीवात्मा को उत्तरोत्तर उन्नयन की ओर आगे बढ़ाता है। धर्मानुकूल कर्तव्यों में निहित रहकर वर्णों तथा आश्रमों का मूल ध्येय प्रशस्त होता हैं।

धर्मानुकूल आचार ही 'संस्कार' है। संस्कारों के प्रतिपालन से जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। संस्कार ही समाज की उन्नति का मूल कारण है। अज्ञान, पाप, अन्याय तथा दुष्कृत प्रवृत्तियॉ व्यक्ति तथा समाज के उन्नयन, तथा उत्थान एवं विकास में बाधक है। इसीलिए उन्हें 'अधर्म' कहा गया है और उनसे दूर हटने का निर्देश किया गया है। इन अज्ञानादि दुष्ट प्रवृत्तियों का उन्मूलन शिक्षादि संस्कारों से होता है। उनका निर्देश एवं नियमन स्मृतियाँ करती है।

कुछ विशेष परिस्थितियों में, जब व्यक्ति अपने वर्ण तथा आश्रम के विहित कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पाता, ऐसी परिस्थिति में धर्मशास्त्र में उसके विकल्प बताए गए है, जो कि शास्त्रविहित होने के कारण धर्मानुकूल है, उसे 'आपद्धर्म' कहा गया है। किन्तु परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उसे 'आपद्धर्म' त्यागकर अपने नियमित वर्णाश्रम धर्म को अपना लेने का निर्देश दिया गया है।

इस तरह जीवन के मौलिक प्रश्नों पर भारतीय चिन्तक आदि–काल से ही विचार करते और समय–समय पर ऐसी व्यवस्थाओं को प्रस्तावित करते रहे हैं जो मानवीय मूल्यों के विकास में योगदान देती रही। साथ ही मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाने में सहायता पहुँचाती है और उसे अपने कर्तव्यों का बोध कराते हुए पालन करने की प्रेरणा देती है। प्राचीन भारतीय विद्वानों के चिन्तन, मनन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों का प्रभाव भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर बहुत गहरा पड़ा है। इन विचारों को हृदयंगम कर हम प्राचीन भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाओं को अधिक सरलता से समझ सकते है।

अतः प्राचीन भारत की सभी सामाजिक संस्थाओं में अन्तर्सम्बन्ध पाया जाता है। सभी सामाजिक संघटन एक–दूसरे से सम्बन्धित रहे हैं और सबका उद्‌देश्यों व्यक्ति के कार्यों में परिष्कार करके उच्च मानवीय और नैतिक मूल्यों की प्राप्ति करना है। किसी एक भी संघटन को छोड़ देने से हमारे उद्‌देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि व्यक्ति का जीवन सभी संस्थाओं के कार्यों से प्रभावित होता है और इन सभी संघटनों का उद्‌देश्य उच्च मानवीय एवं नैतिक मूल्यों की प्राप्ति करना है जिसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सदाचार तथा अन्य अनेक गुणों का समावेश होता है।

संदर्भ सूची

1. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 51
2. अमरकोश, 3.3.48
3. Pre-Muslim India, Part - I
4. Salator- The Dravidian Elements in Indian Culture, P. 33
5. Malik, S.C – Indian Civilization (The formative period).
6. जौहरी, मनोरमा– प्राचीन भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था, पृ0 2
7. Max Mullar- Ancient Sanskrit Literature, P. 570
   Dutt, N.K. – Origine and Growth of Caste in India, Part-I, P. 3
8. शर्मा, रामशरण– प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, अ0–3, पृ0 48
9. थापर, रोमिला– फ्राम सोनियेजटु स्टेट, पृ0 18
10. ऋग्वेद, 10.90.12
11. वही, 9.112.3
12. यजुर्वेद, 31.10.1
    वृहदारण्यकोपनिषद, 1.4.11–5
13. छान्दोग्य उपनिषद, 3.5.6; 5.3.7 तथा अन्य उपनिषद।
14. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अ0 1, पृ0 15–16
15. शतपथ ब्राह्मण, 13.8.3.11; 1.1.4.12
16. मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, धम्मपद, आदि।
17. धम्मपद, 8.8
18. मज्झिम निकाय, 1.4.9; अंगुत्तर निकाय, 3.120; जातक, 1.4–37
19. दीर्घ निकाय, 1.97–99
20. सुन्तनिपात, (Tr. Fausboll, P. 23, 52 etc.)
    Fick, R.- Social Orgnization in North East India in Buddha's Time, p. 209
    ललितविस्तर (Tr. Lefmann's, p. 20)
21. Ghurey - Caste and race in India, p. 70
22. Sir Charls Elliot (Quoted by Ghurey)
23. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.1.15
24. गौतम धर्मसूत्र, 1.8.13
    Sharma, R.S. - Shudras in Ancient India, P. 67-70
25. गौतम धर्मसूत्र, 17.1.6
26. वही, 9.1; 'राजा सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणवर्जनम् 1'
27. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 20.10.26.10; 1.4.14.23

28. रामायण, 3.14.29

29. महाभारत, शान्तिपर्व, 122.4–5; 'ब्राह्मण मुखतः सृष्टो ब्राह्मणों राजसत्तम्।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्टः उरूभ्यां वैश्य एव च।।
वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः संभूतः पदभ्यां शूद्रो विनिर्मितः।।''

30. महा0, अनुशासनपर्व, 48.3

31. वही, वनपर्व, अ0 206 और 207; अनुशासन पर्व, 143.1–47

32. वही, 143.55

33. महाभारत, 13.143.50

34. मनुस्मृति, 1.87; 1.31; आदि।
याज्ञ0स्मृति, 1.10
बौधायन स्मृति, 1.61.1

35. मनुस्मृति, 10.4

36. महा0, शान्तिपर्व, 60.7

37. मनु0, 60.63; 1.88–91।

38. गौतम ध0सू0, 7.6; 10.5.6
अर्थशास्त्र, 9.2
मनु0, 10.81–84

39. अर्थशास्त्र, 3.6

40. मनु0 1.89

41. गौतम ध0सू0, 10.1–3
महा0, भीष्म पर्व, 42.44
वही, शान्तिपर्व, 60.21–3

42. महावग्ग, 6.28.4

43. वही, 8.1.16
जातक 1, पृ0 219

44. महा0, भीष्मपर्व, गीता, 4.13

45. Ghurey- Caste and Race in India, P. 73

46. महाभारत, 12.295.5–6

47. गौतम ध0सू0, 7.26
मनु0 10.98

48. शर्मा, रामशरण– शूद्रों का प्राचीन इतिहास।

49. वही, पृ0 21–23

50. शतपथ ब्राह्मण, 1.1.4.12

51. शर्मा, आर0एस0– शूद्राज इन एंशिएंट इण्डिया, पृ0 78–80।

52. उद्धृत, उपरोक्त से
53. गौतम धर्मसूत्र, 1.57
54. वही, 10.58–60; 10.64–65; 12.4
55. आपस्तम्ब ध0सू0, 1.3.9.9
56. बौधायन, ध0सू0, 110.19.1–6
57. वशिष्ठ ध0सू0, 4.3
58. जातक, 3, पृ0 326
शर्मा, आर0एस0– शूद्राज इन एंशिएंट इण्डिया, पृ0 125–27
59. रामायण, 1.59.13–14
60. वही, 7.73.76
61. महाभारत, 13.10.16
62. वही, 12.292.2–4
63. वही, 2.33.41
64. शर्मा, आर0एस0– शूद्राज इन एंशिएण्ट इण्डिया से, पृ0 150 तथा आगे
65. उपरोक्त
66. डा0 शर्मा, आर0एस0–प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ0 47
67. पाण्डेय, विमलचन्द्र– प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास।
68. Ghurey- Caste & Race in India, P. 91
69. Sharma, R.S. - Sudras in Ancient India, P. 123-24
70. अर्थशास्त्र, 4.10
मनु0 7.337–8
71. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 148
72. Dubois, Abbe- Hindu Manners, Customs and Ceremonies, P. 14
73. मनु0 10.40
74. Kane, P.V. - History of Dharmshastra, Voll.-II, Part-I, P. 50
75. मनु0 10.24
76. नारद0, स्त्रीपुंस, 102
77. गौतम स्मृति, 8.3; 'प्रसूतिरक्षणम संकरो धर्मः'
78. उद्धृत; मिश्र, जयशंकर– वही, पृ0 163
79. Shri Niwas- Caste in Modern India, P. 71-85
80. थापर, रोमिला– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अध्याय–13
81. वृहदारण्यकोपनिषद, 1.4.12
82. वृहदारण्यकोपनिषद, 1.4.12

83. अष्टाध्यायी, 5.4.9
महाभाष्य, 5.3.55; 'जननेन या प्राप्यते सा जातिः।'

84. गौतम ध0सू0, 11.30
आपस्तम्ब ध0सू0, 2.3.1

85. उद्धृत; डा0 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 160

86. उपरोक्त

87. Shastri, Nilkanth- the age of the Nandas and Mauryas, P. 116

88. मनु0, 10.5

89. महा0 अनुशासन पर्व, 48.4–29

90. उद्धृत; मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 176–196

91. उपरोक्त

92. उपरोक्त

93. Rislay, Herbert – The People of India, P. 5

94. Cooley- Social Orgnization, P.211

95. Madan and Majumdar – A caste to a closed class

96. Ketkar- History of Caste in India, P. 15

97. Ghurey- Caste, Class & Occupation, P. 2-27

98. Dutt, N.K. – Origin & Growth of Caste in India, P. 1-8

99. सहाय, एस0एस0– प्राचीन भारत का सामाजार्थिक इतिहास, पृ0 27

100. Kane, P.V. – History of Dharmshastra, Vol. I, P. 1-4

101. रामायण, 2.21.41; 'धर्मो हि परमो लोके.....।

102. महा0, कर्णपर्व, 69.57

103. वही, शान्तिपर्व, 58

104. वही, मोक्षानुशासन पर्व, अ0 265

105. मनु0 4.176

106. वही, 2.6, 12

107. वशिष्ठ ध0सू0, 1, 4–6

108. श्रीमद्भागवत, 7.11.8–12

109. Zimmer- Philosophies of India, P. 28-35

110. Dr. Radhakrishnan- Religion and Society, P. 104

111. Gokhle, G.K. – Indian Thought throw the Esses, P. 25

112. Pandey, G.C. – The Meaning and Process of Culture, P. 97

113. महा0 उद्योगपर्व, 72.23–24; 'धनात्सुवति धर्मो हि।'

114. वही, शान्तिपर्व, 8.17–18

115. अर्थशास्त्र, 1.70; 10.11

116. आपस्तम्ब ध0सू0, 2.8.20, 22–28

117. मनु0, 2.224; 4.176

118. Verma, V.P. – Studies in Hindu Political Thought and its metaphysical foundation, P. 54

119. Prabhu, P.N.- Hindu Social Organisation, p. 30

120. महा0, शान्तिपर्व, 133.10
वही, स्वर्गारोहण, 5.63

121. वही, शान्ति पर्व, 90.18

122. अर्थशास्त्र 1.7. 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्'।

123. मनु0 12.38;'तमसो लक्षणं कामो।'

124. वही, 3.79

125. महा0, गीता, 2.62–63

126. वही, 2.64

127. वही, 7.11

128. महा0, शान्तिपर्व, 167.8

129. वही, उद्योगपर्व, 128.30

130. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 278

131. महा0, भीष्मपर्व, गीता, 5.24, 26

132. वही, 5.28

133. मिश्र जयशंकर, वही, पृ0 28

134. मनु0, 6.35

135. वही, 6.36

136. विष्णु पुराण, 3.9.33

137. महा0, सभापर्व, 20.13

138. कालिदास, कुमारसम्भव, सर्ग 5; 'अनेन धर्मः सविशेषमद्य में, त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।'

139. मनु0, 2.244

140. कामसूत्र, 1.1.1

141. Dr. Kapadia – Marriage and Family in India, P. 25

142. सिंह, वीरेन्द्र कुमार– प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ0 66

143. Prabhu, P.N.- Hindu Social Orgnization, P. 83

144. David, R. – The Dilouges of the buddh, Part-I, P. 212

145. मनु0, 2.30

146. Pande, G.C.- Studies in the Origins of Buddhism, P. 322-26

147. Kane, P.V.-History of Dharmshastra, Vol. II, Part II, P. 419-20

148. Prabhu, P.N.- Hindu Social Organization, P. 88

149. छान्दोग्य उपनिषद, 2.13.31
जाबालोपनिषद्, 4

150. याज्ञ0 स्मृति, 1.15

151. योगसूत्र, 2.30

152. उद्धृत; सिंह, वीरेन्द्र कुमार– प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ0 68

153. अष्टांगहृदय, शा0स्था0, 3.296

154. योगसूत्र, 2.30

155. दक्षसंहिता, 7.31–32

156. शुक्रनीति, 4.41; 'विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्'.....।

157. काशिका0, 8.3.86

158. बौधायन गृ0सू0, 2.8.1.12 तथा अन्य गृह्यसूत्र।

159. महा0, शान्तिपर्व, 191.8

160. वही

161. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 121

162. मनु0, 2.245

163. ओम प्रकाश– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 121–22

164. अर्थशास्त्र, 1.3, 12.1–2

165. महा0, भीष्मपर्व, गीता, 4.39
मनु0, 2.118, 179; 2.88–97, 160

166. योगसूत्र, 2.18

167. मनु0, 3.2 पर कुल्लुकभट्ट की टीका

168. महा0, शान्तिपर्व, 144.6; 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

169. 'प्रजातन्त्र मा व्यवच्छेत्सीः।' – तैत्तिरीयोपनिषद्

170. मनु0, 2.67

171. मनु0, 4.239–42; –नामुत्र हि सहायतार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।

172. वही, 3.118; 4.29

173. अर्थशास्त्र, 1.3

174. मनु0, 3.68–76

175. वही, 3.68–76

176. गौतम ध0सू0, 3.3
बौधायन ध0स0, 2.6.29; 42–43 तथा 2.7.24

177. महा0, शान्तिपर्व, 11.15

178. Prabhu, P.N. - Hindu Social Orgnization, P. 266

179. मनु0, 6.2–3

180. महा0 अनुशासनपर्व, 141

181. मनु0, 6.4, 21

182. The age of Emperical Unity, P. 552

183. डा0 ओम प्रकाश, वही, पृ0 128

184. महा0, शान्तिपर्व, 192.3

185. Davids, R. - The Dilouges of the Buddh, P. 212

186. Thapar, Romila - Ancient Indian Social History, P. 67

187. उपरोक्त, पृ0 64

188. मनु0 6.33–68

189. काणे, पी0वी0– धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ0 439

190. महा0, भगवद्गीता, 9.27–28

191. पाण्डेय, राजबली –हिन्दू संस्कार, पृ0 18

192. वाचस्पत्य वृहदभिमान, 5, पृ0 5188
मनु0 स्मृति, 2.26
कुमारसम्भव, 1.28; शाकुन्तलम, 7.33; रघुवंश, 1.20; 3.18–25 हितोपदेश, 1.8; तर्कसंग्रह आदि। (उद्धृत डा0 राजबली पाण्डेय की पुस्तक, हिन्दू संस्कार से)

193. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 17, 19

194. उपरोक्त

195. वही, पृ0 19

196. डा0 ओम प्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 252

197. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 286

198. डा0 ओम प्रकाश– वही, पृ0 252

199. Williems, M. - Hinduesm, P. 65.

200. गौतम ध0सू0 3.14.24

201. याज्ञ0 स्मृति, 1.3

202. पाण्डेय, राजबली–हिन्दू संस्कार, पृ0 26

203. पूर्वमीमांसा, अ0 1, पाद 4, अधि0 2 (वी0मि0सं0)

204. ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायं पच्यते नात्र संशयः।। पाराशर स्मृति, 4.15

205. सुश्रुत संहिता, शरीर स्थान, 2.25–27

206. बौधायन गृह्यसूत्र, 1.4.47
याज्ञ0 स्मृति, 1.79

207. मनु0 स्मृति, 3.45, 47; याज्ञ0 स्मृति, 1.79

208. मनु0 स्मृति, 3.48–49

209. याज्ञ0 स्मृति, 1.11 तथा अन्य स्मृतिकार।

210. संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृ0 166

211. बौधायन गृ0सू0, 1.9.1; आश्वलायन गृ0सू0, 1.13

212. काणे, पी0वी0– धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 188

213. सुश्रुत, शरीर स्थान, अ0 2 तथा सूत्र स्थान, अ0 38

214. वीरामत्रोदय, संस्कारप्रकाश, भाग 1, पृ0 172

215. आश्वलायन गृ0सू0, 1.14.1–9
गौतम ध0सू0, 8.74
याज्ञ0 स्मृति, 1.11

216. सुश्रुत, शरीर स्थान, अ0 11

217. याज्ञ0 स्मृति, 3.89

218. पारस्कर गृ0सू0, 1.13
गोभिल गृ0सू0, 2.7.17
आश्वलायन गृ0सू0, 1.15.2

219. आश्वलायन गृ0सू0, 1.15.1–4

220. Prabhu, P.N. – Hindu Social Orgnization, P. 223

221. आपस्तम्ब ध0सू0, 15.8.11
बौधायन ध0सू0, 2.1.23
याज्ञ0 स्मृति, 1.12
वीर मित्रोदय, भाग 1, पृ0 334 पर वृहस्पति का मत।

222. आपस्तम्ब गृ0सू0, 1.15.4
वृहस्पति, वही, पृ0 241

223. सरस्वती, स्वामी दयानन्द– 'संस्कार विधि' से उद्धृत।

224. कात्यायन, गृ0सू0 37.38; 'तृतीये मास कर्त्तव्यं शिशोः सूर्यस्य दर्शनम्
चतुर्थे मासि कर्तव्यं तथा चन्द्रस्य दर्शनम्।।'
मनु0, 2.34

225. वही

226. बौधायन गृ0सू0, 2.4
पारस्कर गृ0सू0, 2.1
मनु0 स्मृति,2.35

227. 'ओं अदिति श्मश्रु वपत्वाव, उद्रन्तु वर्चसा।
चिकित्सु प्रजापति दीर्घायुत्वाय चक्षसे।।– अथर्ववेद
सुश्रुत, शा0स्था0, 6.83

228. अर्थशास्त्र, 1.5

229. सुश्रुत, चिकित्सा स्थान, 19.21

230. सुश्रुत, 16.1

231. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 131–132

232. वही, पृ0 133

233. वही, पृ0 137

234. Altekar, A.S. – Education in Ancient India, P. 269

235. गौतम ध0सू0, 1.6.12
मनु0 स्मृति, 2.36; 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।।'
महाभाषय, 3.57;– 'गर्भाष्टमे ब्राह्मण उपनेय इति सकृदुपनीयकृतः शास्त्रार्थः।'

236. 'इन्द्रस्य ब्रह्मचर्यस्थग्निरः
आचार्यस्तवाहमाचार्य स्तव।'

237. आश्वलायन गृ0सू0, 1.12.11

238. आपस्तम्ब गृ0सू0, 2.5.16

239. Altekar, A.S. – Education in Ancient India, P. 203

240. शांखायन गृह्यसूत्र, 2.2.3; 2.4.1

241. पाण्डेय राजबली– हिन्दू संस्कार, पृ0 143–80

242. मनु0, 2.50

243. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 144

244. Spencer, Herbert – Principles of Sociology, 1, P. 189, 290

245. व्यास स्मृति, 1.14

246. आश्वलायन गृ0सू0, 1.18

247. मनु0, 2.65; 'केशान्त षोऽषे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्वयधिकेततः।।'

248. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 186

249. आश्वलायन, गृ0सू0, 1.18, 1–9

250. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 302

251. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 187

252. आपस्तम्ब गृ0सू0, 5.12.1
मनु0, 3.4

253. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, पृ0 190–91

254. पारस्कर, गृ0सू0, 2.1.8

255. वही, 2.6.8–13

256. बौधायन गृ0सू0, 2.9

257. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2.2.2.6; 'अयज्ञियों वा एष योऽपत्नीकः।'

258. डा0 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 161–162

259. याज्ञ0स्मृति, 1.55
नारद स्मृति, 12.16–18

260. पाण्डेय, राजबली– हिन्दू संस्कार, पृ0 254–85

261. डा0 ओम प्रकाश– वही

262. पाण्डेय, राजबली– वही, पृ0 299–307

263. आपस्तम्ब गृ0सू0, 4.1
पारस्कर गृ0सू0, 3.19
बौधायन गृ0सू0, 1.43

264. पारस्कर गृ0सू0, 3.10, 16–23, 27, 28
आश्वलायन गृ0सू0, 4.5; 5.5

265. मनु0, 2.69

266. आश्वलायन गृ0सू0, 1.22.1
पराशर गृ0सू0, 1.4.13

267. वही, 1.4.8

268. वही, 1.7.1

269. वही, 1.8.21

270. शांखायन गृ0सू0, 1.14.5

271. डा0 राजबली पाण्डेय की पुस्तक हिन्दू संस्कार, पृ0 34 से उद्धृत।

272. मनु0, 2.28 पर मेधातिथि का भाष्य।

273. वी0मि0सं0 भाग 8 पृ0 25

274. Kane, P.V.- History of Dharmshastra, Vol. II, Part I, P. 192

275. शब्द कल्पद्रुम, चतुर्थ काण्ड, पृ0 427

276. आपस्तम्ब ध0सू0, 2.5.11.12; 'धर्मप्रजा सम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत।'

277. मनु0 4.244

278. Kapadia, K.M. – Marriage & Family in India, P. 167

279. उत्तराध्ययन सूत्र (उद्धृत डॉ0 एस0एस0 सहाय की पुस्तक प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 99 से)

280. ललित विस्तर, पृ0 137

281. Brifolt, Robert – Sex in Religion

282. Westermark – The History of Human Marriage, Vol. 1, P. 26

283. Majumdar and Madan – An Introduction to Anthropology, P. 416

284. शर्मा आर0एस0,– प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ0 56–59
Singh, S.D. – Poliendry in Ancient India – Chapter– II-III.
Sarkar, S.C. – Some aspects of the Earliest Social History of India, 1928

285. शर्मा, आर0एस0– वही, पृ0 56–57

286. Vedic Age, P. 394
History of Dharmshastra, Vol. 2, Part – 1, P. 427

287. महा0, कर्णपर्व, 27.36; 27.85

288. शर्मा, आर0एस0– वही, पृ0 57–58

289. Kane, P.V. – Opp. cit., p. 427

290. शर्मा, आर0एस0– वही, पृ0 58

291. Mittar, D.N.- Position of Women in Hindu Law, P. 200-203
Sarkar, S.C. – Op. Cit, P. 141-143

292. Kapadia, K.M. – Hindu King ship, P. 53

293. Altekar, A.S. – Position of Women in Hindu Civilization, P. 45-65

294. आपस्तम्ब गृ0सू0, 8.88–9

295. थेरी गाथा, सं0 47; 445
जातक, 4, पृ0 484; 9, पृ0 456

296. रामायण, 2.118.34; 1.66.15 तथा अन्य।

297. गौतम ध0सू0, 17.59

298. अर्थशास्त्र, 3.2; 'द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्त व्यवहार भवति।'

299. मनु0, 9.94

300. वेदालंकार, हरिदत्त– हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 144

301. आश्वलायन, गृ0सू0, 1.5.2
आपस्तम्ब गृ0सू0, 3.20

302. बौधायन ध0सू0, 4.1.12

303. मनु0, 4.244

304. Altekar, A.S. – Position of Women in Hindu Civilization, P. 88 and Others.

305. मनु0, 9.230

306. वशिष्ठ ध0सू0, 1.38; विष्णु ध0सू0, 24.11;
कामसूत्र, 3.1.2

307. कामसूत्र, उपरोक्त

308. आश्वलायन, गृ0सू0 1.6

309. Sternbach L.- Juridical Studies in Ancient Indian Law, Vol. 1, P. 347.

310. मनुस्मृति, 3.24 तथा अन्य

311. Das, R.M.- Women in Manu and his Seven Commentators, P. 113-114

312. मनु0 3.36–42

313. हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 164

314. हिन्दू संस्कार, पृ0 203 तथा आगे।

315. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1, 6
मनुस्मृति, 3.27; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.58

316. Chatterjee, K.N.- Hindu Marriage – Past and Present, P. 42

317. हिन्दू संस्कार, पृ0 216

318. वही, पृ0 214

319. मनुस्मृति, 3.53

320. Prabhu P.N.- Hindu Social Orgnization, P. 154

321. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1, 60

322. Position of women in Hindu Civilization, P. 55

323. महाभारत, 13.47.3

324. पाण्डे, विमलचन्द्र– विश्व की सभ्यताएं

325. महाभारत, 1. 113. 8–3
वही, वनपर्व, 3. 115. 20–30

326. जातक, 4, पृ0 108
वही, 3, पृ0 342
थेरीगाथा, 5.5, 120, 153

327. मनु0, 3.51

328. 'आददीत न शुद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं ही गृह्न् कुरूते छन्नं दुहितृविक्रयम्।।

329. बौ0ध0सू0, 1. 2. 20 तथा 1. 11. 21

330. आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग–1, पृ0 60 पर उद्धृत।

331. Das R.M.- Women in Manu and His Seven Commentators, p. 131

332. वेदालंकार, हरिदत्त– हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 196

333. Altekar, A.S.- Position of Women in Hindu Civilization, P. 49

334. बौ0ध0सू0, 1. 11. 6. 'सकामेन सकामायां मिथः संयोगे गान्धर्वः।'
आ0ध0सू0, 2. 20; 'मिथः कामात्सांवर्तेते सा गान्धर्वाः।
गौ0ध0सू0, 1. 4. 8; 'इच्छन्त्या स्वयं संयोगो गान्धर्वः।'

335. हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ0 198–99

336. महा0, 1. 69 तथा 1. 72. 13

337. जातक, 1, पृ0 300

338. मत्स्य पुराण, 24. 30. 32 तथा अन्य पुराण भी।

339. कामसूत्र, 3. 5. 30, 'अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो, मतः।'

340. मनु0, 3, 23–25

341. महा0, 34. 45. 19–20

342. हिन्दू संस्कार, पृ0 208

343. विष्णु स्मृति, युद्धहरणेन राक्षसः।'

344. याज्ञवल्क्य स्मृ0, 'राक्षसो युद्धहरणादिति।'1, 123, 3–4

345. महा0, 1. 245. 6; क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्।'

346. महा0, 12. 35. 25

347. मनु0 स्मृति, 3.21

348. हिन्दू संस्कार, पृ0 204

349. Das, R.M.- Women in Manu and His Seven Commentators, P. 131

350. ऋग्वेद, 10. 27. 22

351. धम्मपद टीका, पृ0 278–79

352. कुणाल जातक, सं0 536

353. गौतम धर्मसूत्र, 4.1, 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्।'

354. मनु0, 3. 12; याज्ञ0, 1.55; नारद, स्त्रीपुंस, 4

355. मत्स्य पुराण, 30. 18

356. Kane, P.V.- History of Dharmshastra, Vol. II, Part – I, P. 449-50

357. मनु0, 9. 85–86; याज्ञ0, 1. 88

358. कात्यायन स्मृति, 8.6; तथा अन्य।

359. मालविकाग्निमित्र, उच्छ्वास, 1

360. फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम, 3, पृ0 152–54

361. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, खण्ड–4, पृ0 140

362. मनु0, 9. 85–86; याज्ञ0, 1. 88

363. हिन्दू संस्कार, पृ0 227

364. घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आक्युपेशन, पृ0 147–75

365. वही, पृ0 323

366. आप0ध0सू0, 2, 11, 15; 'सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्।'

367. शब्दकल्पद्रुम, II, पृ0 353

368. अष्टाध्यायी, 4. 1. 93

369. मिश्र, जयशंकर– वही, पृ0 326

370. प्रश्नोपनिषद, 1.1 : छ0उप0, 5.14. 1 तथा 5. 16. 1 तथा अन्य।

371. डा0 कपाडिया, के0एम0– मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पृ0 128

372. गौ0ध0सू0, 4. 2. 23. 12

373. गोभिल गृह्यसूत्र, 3. 4. 5; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2. 5. 11–16

374. गौ0ध0सू0, 1. 4. 3 तथा 3. 2. 1; 1. 4. 13
मनु0, 3. 5; 9. 186
याज्ञ0, 1. 53 तथा अन्य।

375. मनुस्मृति, 9. 176

376. वही, 9. 77; 81

377. ब्रह्मपुराण, 10.9

378. निरूक्त, 8.4